लेखक-मण्डल-ग्रन्थावली, (आ) विभाग संख्या ५

प्रेम की पीड़ा

[उपन्यास]
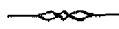
लेखक

पं० गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश', बी० ए०

मंत्री, लेखक-मण्डल, प्रयाग

प्रकाशक

लेखक-मण्डल, दारागंज, प्रयाग

प्रथम संस्करण } २००० प्रतियां } सन् १९३० { मूल्य ।।।)

गिरीशजी के अन्य अनूठे ग्रन्थ

अरुणोदय [उपन्यास] मूल्य २)

जगद्गुरु का विचित्र चरित्र [छप रहा है]

पाप का प्रायश्चित्त ”

रसालवन [काव्य सात सर्गों में, तृतीय संस्करण छप रहा है]

दोष मेरा ही है, माना,

तुम्हीं होकर निर्दोष रहो।

बड़ों का करुणा है भूषण,

प्रार्थना है बस रोष न हो॥

तुम्हारे प्रश्नों का उत्तर

आज देता हूँ, अवलोको।

तनी भौंहों को समझा दो

ग़ज़ब ढाना उनका रोको॥

तालिका

मौन-निमंत्रण

लगनि कुल की सकुच,

विकल भई अकुलाय

और ऐंची फिरै,

फिरकी लौं दिन जाय

—बिहारी

प्रेम की पीड़ा

[पत्र १]

'आशा' कार्य्यालय, काशी

प्रिय बाबू राधावल्लभ

छः महीने से न आप ने 'आशा' के लिए कोई कविता भेजी और न अपना कुशल-संवाद ही प्रेषित किया। मैं तो आप का एक साधारण मित्र हूँ, सो आप का हाल न मिलने पर व्याकुलता का अनुभव करने लगता हूँ। जब मेरी यह दशा है तो उन लोगों की क्या अवस्था होगी जो आप को जी-जान से प्यार करते हैं। क्योंकि, मुझे इस बात का पता लग गया है कि आप के ऊपर किसी ने अपने प्राण निछावर कर दिये हैं। यह कौन है, यह तो मैं अभी नहीं बताऊँगा, क्योंकि अभी मुझे यह देखना है कि आप इस प्रेम-कहानी को ठीक ठीक बताते हैं या नहीं। मैंने आप का यह भेद किस तरह पाया, यह भी मै आप को तभी बताऊँगा। अभी इतना ही कह सकता हूँ कि मैंने यह सब चोरी से जाना है। आप के उत्तर की प्रतीक्षा करूँगा।

भवदीय

सरोजकुमार

[पत्र २]

कलकत्ता

प्रिय सरोज बाबू

आप का कृपा-पत्र मिला। 'आशा' के सम्बन्ध में आप ने जो उचित शिकायत की है उसने मेरे शिर को लज्जा से नत कर दिया है। इधर कुछ समय से मेरा हृदय अवश्य ही आन्दोलित है। यह आन्दोलन, अनेक समालोचकों के मत के अनुसार, सम्भव है, भविष्य में मेरी किसी रचना के उत्कृष्ट सौन्दर्य्य का कारण बन जाय। परन्तु, अभी तो मैं यही देखता हूँ कि उसने मुझे किंकर्त्तव्य-विमूढ़ बना दिया है, विक्षिप्त-प्राय कर दिया है और आप जैसे सुहृदों को भी मेरी विस्मृति के गर्त्त में डाल दिया है। आप को इस आन्दोलन का परिचय देने की बिलकुल ही आवश्यकता नहीं है, क्योंकि न जाने किस दैवी सूत्र से उसके प्रधान कारण-स्वरूप मेरी प्रेम-कथा को आपने यों ही जान लिया है। अब इस प्रेम-कथा के सम्बन्ध में आपसे कुछ निवेदन करूँगा। विश्वास रखिए, मैं नमक-मिर्च लगा कर अपनी सफ़ाई नहीं दूँगा, अपनी बड़ाई नहीं हाँकूँगा। मैं जो कुछ कहूँगा वह सच सच कहूँगा। अपनी दुर्बलता को आप के सामने स्पष्ट कर के रख दूँगा। फिर आप चाहे मुझे एक सरल-हृदय और भाव-प्रवण कवि कहें, चाहे माया के चक्कर में पड़ कर भटकनेवाला एक दयनीय प्राणी।

सरोज बाबू! सबसे पहली बात तो यह कि मुझे जो यह प्रेम प्राप्त हुआ है—जिसका अत्यन्त तीव्र वेग ही मेरे उद्वेग का कारण

हो उठा है—उसकी खोज मैंने कभी नहीं की थी। वह मुझे अनायास ही मिला है और इस कारण कि उसने मुझे अनन्त आनन्द की राशि उपलब्ध करायी है, उसे पाकर मैं अपने को धन्य समझता हूँ। जिस सूत्र से अपनी प्रेमिका के प्रेम-भाव से मैंने परिचय प्राप्त किया था वह समाज की मर्य्यादा की दृष्टि से अनौचित्य-पूर्ण भले ही हो, किन्तु मेरे लिए तो वह कल्पवृक्ष ही हो गया। यदि मेरा चलता तो मैं अनन्त निद्रा में निमग्न रह कर अपनी दयामयी प्रेयसी को हाथ से खो बैठता, उसके अनुपम प्रेम-प्रसून को उपेक्षा, उदासीनता और संकोचशीलता के मरुस्थल में अपने सौरभ और सौन्दर्य विलुप्त कर के नष्ट ही हो जाने देता। किन्तु, मेरे एक कृपालु मित्र ने—मैं तो उन्हें कृपालु ही कहूँगा—क्योंकि उन्होंने मेरी सब से अधिक भलाई की है—प्रेम-जगत् के दावपेंच से मेरा परिचय कराया और जो साहस मुझमें कभी न उत्पन्न होता उसे अनेक प्रयत्नों से सञ्चारित किया।

सरोज बाबू! मै आप से सच कहता हूँ, मेरी सम्पूर्ण प्रेम-कथा को श्रवण करके आप फूट फूट कर के रोये बिना नहीं रहेंगे। ऐसी पवित्र और ऐसी करुणा-जनक प्रेम-कथा आपने काव्यों और उपन्यासों में भी न पढ़ी होगी। तो फिर अब अधिक विलम्ब क्यों करूँ? अपनी वेदना की कहानी आपके कानों में डाल कर अपने हृदय को थोड़ा हलका क्यों न कर लूँ?

[पत्र २]

उन दिनों मैं आगरे में सेण्ट जान्स कॉलेज में पढ़ता था। पं० शारदानाथ

आगरे में जज थे। उन्हीं के बँगले के बरामदे में एक चारपाई पर बैठ कर मैं कुछ लिख रहा था, लिखते-लिखते कुछ थकावट सी मालूम हुई, मैंने क़लम और काग़ज़ को अलग रख दिया। मेरा सिर ज्योंही ऊपर उठा, त्योंही मुझे ऐसा मालूम हुआ मानो किसी की दो भाव-पूर्ण आँखें, जो पहिले से मेरी ओर लगी हुई थीं, एकाएक सामने से हट रही हैं। जिस चाँद ऐसे मुखड़े की ये कमल के फूल ऐसी आँखें थीं वह किवाड़ की झिलमिली के सूराख़ में से अपनी चाँदनी छिटका रहा था और मुझको पूरी तरह दिखाई पड़ने के पहिले ही न जाने किन बादलों में छिप गया। यह घटना मुझे एक हल्के सपने की तरह मालूम हुई। मैं फिर अपना काम करने लगा।

कुछ दिनों के बाद बँगले के मालिक ने मुझे एक छोटी सी कोठरी रहने के लिए दी, और मैं वहीं आकर रहने लगा। एक दिन जब बरामदे में मैं एक टूटी-फूटी चारपाई पर पड़ा हुआ एक किताब पढ़ रहा था, तब जिस घटना की चर्चा ऊपर की गई है वही फिर सामने आई। किसी की दो आँखें, जो मेरी ओर देख रही थीं, मेरी आँखों के अचानक उठते ही झिलमिली की ओट में हो गयीं। मैंने सोचा, यह क्या है, किन्तु मेरी समझ में कुछ न आया।

इसी तरह कई बार हुआ। दशहरे की छुट्टियों में मैं घर चला गया। जब लौट कर आया तब बँगले के मालिक ने मुझे अपने लड़के को पढ़ाने का काम सौंपा। मुझको रुपये-पैसे की बहुत तंगी थी, मैंने तुरन्त स्वीकार कर लिया।

दूसरे दिन से बरामदे के सामने खुली हुई जगह में सवेरे सात बजे

से ९ बजे तक मैं पढ़ाने का काम करने लगा। लड़का घर में सब से छोटा था, इसलिए उसके पढ़ने का दृश्य देखने के लिए दो एक स्त्रियाँ किवाड़ की झिलमिली के पास आ जाया करती थीं। लड़का स्त्रियों की ओर हाथ उठा कर कहता, "देखो वे तुम्हें देख रही हैं"। मैं उसे अपनी किताब पर ध्यान देने के लिए डाटता और स्त्रियों की ओर कभी न देखता। कुछ दिनों तक प्रायः नित्य ही ऐसा होता रहा। धीरे-धीरे बच्चे का पढ़ना पुरानी बात हो गई और अब उसका पढ़ना-लिखना देखने के लिए माँ और चाची आदि का आना कम हो गया। किन्तु, मैंने देखा कि बहुत दिनों के बीत जाने पर भी एक स्त्री उसके पढ़ाने के समय सदैव पहुँच जाया करती है। थोड़े दिनों में मुझको यह मालूम हुआ कि मेरा वर्त्तमान विद्यार्थी श्यामाचरण पहिले अपनी बड़ी बहिन की निगरानी में पढ़ता था। ज्यों ज्यों दिन बीतते गये और मेरा परिचय बढ़ता गया त्यों त्यों मुझे मकान मालिक की घरेलू बातों से जानकारी भी होती गई और यह पता भी लग गया कि जो स्त्री पढ़ाने के समय बहुधा आया करती है वह श्यामाचरण की बड़ी बहिन है। मैंने अपने मन में सोचा, फिर तो यह देखने के लिए उनका आना ठीक ही है कि मैं उनके पूर्व शिष्य को अच्छी तरह पढ़ा रहा हूँ या नहीं।

एक दिन श्यामाचरण ने कुर्सी पर बैठे हुए अपना पैर मेज़ पर रख दिया। मैंने उससे कहा—"ठीक तौर से बैठ जाओ।" लड़के ने हँस कर कहा—"मास्टर साहेब, ज़रा आराम मिलता है रहने दीजिए।" मैंने फिर पैर हटाने को कहा, लड़का टालता ही रहा। मुझको यह बात अच्छी तरह

मालूम थी कि श्याम की बड़ी बहिन किवाड़ की झिलमिली के पास मौजूद है। बहिन न होती तो शायद मुझको इस बात का ख्याल न होता कि मेरी आज्ञा का पालन नहीं किया गया। किन्तु स्त्री की उपस्थिति में पुरुष अपने बड़प्पन को बनाये रखने की सदैव कोशिश करते हैं। मैं श्याम के सिर में एक चपत लगाने और उसके पैर को मेज़ से ज़बरदस्ती हटा देने के लिए उठा, किन्तु ज्यों ही लड़के के पास पहुँचा त्यों ही झिलमिली से अच्छी तरह दिखाई पड़नेवाली महिला हँस पड़ी। मैंने देखा, उसकी हँसी से मुझे भी हँसी आ गई और मैं लौट कर अपनी जगह पर चला गया। इस हँसी में लड़के ने भी हँस कर अपना पैर हटा लिया। दो तीन मिनट की रुकावट के बाद फिर ठीक तौर से पढ़ाई होने लगी।

पढ़ाई समाप्त हो जाने के बाद मैं अपनी कोठरी में भोजन बनाने चला गया किन्तु आज की हँसी मुझे भूलती न थी। मै बारम्बार अपने हृदय से पूछता था—"इसका मतलब क्या है ?"

श्याम की बहिन का नाम निर्म्मला था। एक दिन वह अपने मँझले भाई के साथ उसके कमरे में बातें कर रही थी। निर्म्मला के मँझले भाई से बातचीत करने के लिए मैं उसके कमरे में जा रहा था। भाई ने कहा—"अभी वहीं रहो।" किन्तु मैंने इस सूचना को ठीक तौर से सुना नहीं। मैं कमरे में चला ही गया। वहाँ निर्म्मला को भाई के सामने सङ्कोच और लज्जा से पृथ्वी में गड़ी जाती हुई देख कर मैं शीघ्रता से उलटे पाँव लौटा। किन्तु उस दिन जिसने अपनी मधुर मुस्कान दिखला कर मेरे मन को

आकृर्षित किया था चलते चलते उसको आज एक बार अबाधरूप से देख ही लिया।

अब किसी न किसी प्रकार मुझको निर्म्मला के दर्शन प्रायः नित्य ही हो जाया करते थे। निर्म्मला मायके में रहने पर भी परदे में रहती थी, इसलिए मैं इसे उसकी कृपा के अतिरिक्त और कुछ नहीं समझता था। किन्तु ऐसा समझ कर भी मैं इतनी धृष्टता नहीं कर सकता था कि उसे अपने ऊपर अनुरक्त समझूँ। मुझ ग़रीब के सिर में महीनों में तेल नाम को भी न पड़ता था, मैं कपड़े लत्ते भी कुछ बहुत बढ़िया नहीं पहनता था, फिर राजकुमारी की तरह रहनेवाली एक अविवाहिता नारी जिसकी आकाँक्षाएं कुछ और ही रहती हैं, जिसके स्वप्न किसी और ही संसार के होते हैं, उस अकिञ्चन पुरुष के ऊपर, जिसे अपने बर्त्तन भी अपने हाथ से साफ़ करने पड़ते हैं, किस तरह मुग्ध हो सकती है? यही सोच कर मैं सहम जाता था और निर्म्मला की सहज और साधारण चेष्टाओं को अनुराग के लक्षण समझने की अपनी मूर्खता पर अपनी ही दृष्टि में उपहासास्पद प्रतीत होने लगता था।

मैने एक काव्य-ग्रंथ लिखा। उसका नाम रक्खा मकरन्द। निर्म्मला के पिता पण्डित शारदानाथ उसे कई दिन से देख रहे थे। एक दिन पिता की अनुपस्थिति में टेबुल पर मकरन्द को देख कर वह उठा लेगई। श्याम ने उसे देख कर कहा—"हमारे मास्टर की कापी तुम क्यों ले आईं।" निर्म्मला ने कहा—"क्या तुमने अपने मास्टर को मोल ले लिया है जो दूसरा कोई उनकी कोई चीज न ले?" लेकिन बालक को इतना धैर्य्य कहाँ

कि वह दलील सुने। श्याम को तो केवल इतने से काम कि उसके मास्टर की कापी उसके हाथ में न होकर निर्म्मला के हाथ में क्यों है। उसने उसे पाने के लिये हठ किया, साथ ही निर्म्मला ने उसे न देने का हठ किया। अन्त में, जब अम्मा पञ्चायत करने के लिये आईं तब निर्म्मला ने कहा—"मैं पढ़ लूँगी तो दूँगी, मैंने इससे थोड़े ही लिया है जो यह झगड़ा कर रहा है।" किन्तु श्याम की बात माननी ही पड़ी। कापी पाकर वह दौड़ता हुआ मेरे पास पहुँचा और उसे दे कर बोला—"तुम्हारी यह कापी दिदिया उठा ले गई थीं।" मैंने कहा—"कौन दिदिया?" श्याम ने उत्तर दिया—"वही हमारी बड़ी दिदिया, तुमने देखा नहीं क्या? जहाँ हम पढ़ते हैं वहीं तो रोज खड़ी रहती हैं।"

मैं—तुम्हारी दिदिया इसे क्यों ले गई थीं?

श्याम—कहती थीं, मैं पढ़ लूँगी तब दूँगी।

मैं—तब तुमने पढ़ने क्यों नहीं दिया?

श्याम—तो पूछ के तो नहीं ले गई थीं, भाई।

मैं—अच्छा तो अब दे आओ, भाई।

श्याम कापी ले कर निर्म्मला के पास गया और उसे दे कर बोला—"मास्टर साहब ने कहा है, इसे पढ़ लेंगी तब हमें दे देंगी।" निर्म्मला ने हँस कर अम्मा के सामने कहा—"तो तुम हार गये, मैं जीत गई।" यह सुन कर श्याम फिर चिढ़ गया और कापी छीनने को दौड़ा। अम्मा ने कुछ चिढ़ कर कहा—"नाहक़ उसे चिढ़ाती क्यों है? पढ़ना है तो अलग ले जाकर पढ।" अन्त में जब निर्म्मला ने स्वीकार कर लिया

कि जीत श्याम ही की है और उसने सिफ़ारिश करके कापी मास्टर से दिला दी है, तब श्याम शान्त होकर बाहर खेलने चला गया।

एक दिन पढ़ा चुकने के बाद भी कुछ देर तक मैं अपने ही स्थान पर बैठा रह गया, उधर झिलमिली के पास निर्म्मला एक छोटी लड़की से, जो किसी बात का उत्तर देने योग्य नहीं थी, बातें कर रही थी। मैं मन ही मन सोच रहा था कि यदि निर्म्मला के हृदय में मेरे प्रति अनुराग है तो उसका कोई व्यावहारिक प्रमाण इस समय मिलेगा। किन्तु, बड़ी देर बीत जाने पर भी मेरे मतलब की कोई बात नहीं हुई। ऊब कर मैं जाने लगा। दो ही क़दम गया हूँगा कि इतने में, जिस छोटी लड़की से निर्म्मला बातें कर रही थी, उसकी टोपी झिलमिली के बाहर गिर पड़ी। मैंने उसे उठा कर निर्म्मला को देने के लिए हाथ बढ़ाया। निर्म्मला ने हाथ बढ़ा कर टोपी ली तो, किन्तु अपने स्थान से अपने आप को छिपाने भर के लिये खिसक गई। इसका यह फल हुआ कि अब की टोपी फिर गिरी और निर्म्मला के हाथ से गिरी। मैंने फिर शीघ्र ही उठा कर दे दिया। निर्म्मला अपनी असावधानी पर बहुत लज्जित और संकुचित हुई। वह भीतर चली गई। मैं अपनी कोठरी में आकर भोजन बनाने लगा।

दूसरे दिन निर्म्मला ने 'मकरन्द' को श्याम के हाथ मेरे पास पहुँचा दिया। एकान्त में मैंने 'मकरन्द' के प्रत्येक पृष्ठ को उलट डाला, परन्तु कहीं भी निर्म्मला के हाथ का एक अक्षर भी नहीं देखा। मेरे हृदय ने अधीर होकर कहा, कहीं एकाध लाइन ही खींच दी होती।

अचानक मैंने सोचा कि शायद निर्म्मला ने इसे पढ़ा नहीं है। मैंने श्याम को बुला कर पूछा—"क्यों, क्या तुमने अपनी दिदिया को इसे पढ़ने को नहीं दिया था ?" श्याम ने उत्तर दिया—"दिदिया ने इसे पढ़ के लौटाया है, तुम न मानो तो हमारे पढ़ने के समय जब वह आवेंगी तब हम तुम्हारे सामने कहला देंगे।" तब मैं कुछ निराश होकर चुप रह गया। मैंने अपने आप ही कहा—"जान पड़ता है, मेरी सब धारणाएँ मिथ्या हैं, निर्म्मला मुझे चाहती नहीं है।"

तीन चार दिन तक तो फिर कोई उत्साह-जनक बात नहीं हुई। किन्तु, एक दिन बिलकुल सवेरे, जब मैं दातौन कर रहा था, निर्म्मला की मधुर मूर्त्ति दूसरे दरवाज़े से दिखाई पड़ी। अधिक देर तक तो वह नहीं ठहरी, किन्तु जाते जाते अपनी मुस्कान का मादक प्रभाव डाल गयी। मैंने अपने संशय-शील मन से कहा—"अब कहो, इसका क्या अर्थ है ?"

दूसरे दिन कोई साढ़े छः बजे अर्थात् अपने पढ़ाने के समय के ठीक आध घण्टे पहिले, बँगले के बरामदे के सामने मैं घूम-घूम कर एक पुस्तक देख रहा था। अकस्मात् मेरी दृष्टि एक दरवाज़े की ओर गई। वहाँ मैंने देखा कि चिक की आड़ में खड़ी होकर निर्म्मला एक ओर को देख रही है। यह बात हो नहीं सकती थी कि उसने मुझको न देखा हो, किन्तु वह बहुत देर तक वहीं खड़ी रही। मैंने अपनी उपस्थिति का अनुभव कराने का पूर्ण प्रयत्न किया, मैं ज़ोर ज़ोर से पढ़ने लगा, किन्तु फिर भी निर्म्मला ज्यों की त्यों खड़ी रही। मैंने अपने मन से पूछा—"इसका क्या अर्थ है ?"

मौन-निमन्त्रण

रविवार का दिन था। बरामदे के पास लगे हुए एक नल के नीचे बैठ कर कोई १०॥ बजे मैं स्नान कर रहा था। एकाएक मुझे दीख पड़ा कि निर्म्मला दरवाज़े के बाहर सिर निकाल कर मुझी को देख रही है। मैंने फिर अपने मन से पूछा—"इसका क्या अर्थ है?"

अपने सन्देह के निवारण के लिए मैंने कई ग्रन्थ अनुराग के लक्षणों की जानकारी के लिए देखे। पुस्तकों से तो यह सिद्ध हो गया कि ये लक्षण प्रेम के हैं, किन्तु मैंने फिर प्रश्न किया—"किन्तु प्रेम-पत्र तो वह लिखती नहीं?" इस प्रश्न का ठीक-ठीक उत्तर मुझको कहीं से नहीं मिला।

एक दिन मैं "अनुराग-प्रसून" नामक नवीन काव्य-ग्रन्थ पुस्तकालय से पढ़ने के लिए लाया। पढ़ चुकने के बाद कुछ साहस करके मैंने श्याम से पूछा—"तुम्हारी दिदिया और किताब लेंगी?" उसने उत्तर दिया, "जाऊँ, पूछ आऊँ।" थोड़ी देर में लौट कर उसने कहा—"वे कहती हैं, क्यों नहीं लूँगी।" मैंने पुस्तक दे दी।

दो तीन दिनों में श्याम पुस्तक को वापिस लाया, किन्तु एक सन्देश के साथ, "इसी पुस्तक पर तुम पता लिख दो।" मैंने पूछा—"किसका।" श्याम ने उत्तर दिया—"यही तो मैं भूल गया।" थोड़ी देर में सिर खुजलाते हुए कहा—"शायद तुम्हारा पता पूछा है।" मैंने कहा—"मेरा पता तो यही तुम्हारा बँगला है।" श्याम ने खीझ कर उत्तर दिया—"तो यहाँ का न पूछा होगा।" मैंने श्याम का विश्वास करके "अनुराग-प्रसून" के प्रथम पृष्ठ पर अपने घर का पता लिख दिया।

मैंने मन ही मन सोचा कि अब निर्म्मला के हृदय में मैं स्थान पा रहा हूँ। किन्तु थोड़ी ही देर में श्याम ने लौट कर कहा—"मैंने पहिली बार सुनने में ग़लती कर दी थी, उन्होंने इस किताब का पता पूछा था, इसको वे मँगावेंगी।" मैंने एक चिट पर पता तो लिख दिया, किन्तु अपनी पहली करतूत से मुझे लज्जा और निराशा हुई।

एक दिन मैंने बङ्किम बाबू की 'राधा रानी' नामक छोटी सी पुस्तक लाकर निर्म्मला के पास पहुँचाने के लिये श्याम को दी। निर्म्मला के पढ़ चुकने के बाद दूसरे दिन जब श्याम पुस्तक वापिस लाया तब उसने कहा—"दिदिया कहती थीं कि यह किताब ख़राब है।" यह सुन कर मैं चिढ़ गया। मेरे पास निर्म्मला की तीन किताबें रक्खीं थीं, मैंने लौटाते हुए कहा—"कह देना ये रद्दी किताबें हमें नहीं चाहिएँ।" श्याम ने दिदिया से जाकर ज्यों का त्यों कहा।

दूसरे दिन मैंने श्याम से पूछा—"क्यों तुम हमारे लिए दूसरी किताबें नहीं लाये।" श्याम ने उत्तर दिया—"वे तुमसे नाराज़ हैं। कहती हैं कि मैंने ऐसी अच्छी-अच्छी किताबें भेजीं और उन्हें रद्दी बतलाते हैं।

मेरे जी में आया कि एक चिट्ठी लिख कर निर्म्मला को यह समझा दूँ कि बङ्किम बाबू जैसे उपन्यास-सम्राट् की पुस्तक को जब आपने ख़राब बता दिया तब मैंने भी झल्ला कर आप की भेजी किताबों को रद्दी कह दिया। किन्तु मेरे हृदय में यह भाव बहुत थोड़ी ही देर तक ठहरा।

—कुछ ही देर में श्याम मेरे लिये अनेक पुस्तकें लाया। मेरी कोठरी का दरवाज़ा खुला हुआ था, मैंने श्याम से कहा—"जाओ मेरी चारपाई पर रख आओ।" जब वह रख कर लौट आया तब हम दोनों बरामदे में कुछ देर तक खेलते रहे। संध्या का भोजन बनाने का समय आया जान कर मैं अपनी कोठरी की ओर चला। मार्ग मे बँगले के एक दरवाज़े पर निर्म्मला खड़ी थी, और एक छोटी सी लड़की को, जो कुछ बाहर थी, भीतर बुला रही थी। लड़की मेरे रास्ते ही में पड़ती थी। मैंने उसको गोद में लेना चाहा, किन्तु मैं दूर ही था कि वह निर्म्मला की ओर ठुमुकती हुई बढ़ी। निर्म्मला ने कहा—"जाओ मास्टर साहब बुला रहे हैं।" किन्तु लड़की पर इस कहने का कुछ प्रभाव न पड़ा, उसने निर्म्मला की गोद में आ कर दम लिया। मैं मुसकराता हुआ चला गया।

यही मेरी प्रेम-कथा का पहला अध्याय है। आज इतना ही लिखता हूँ। अगले सप्ताह में और लिखूँगा। अन्त में मेरा निवेदन यह है कि आप मेरे एक प्रश्न का उत्तर अपने पत्र में अवश्य दीजिएगा—आप से इस घटना की चर्चा किसने की? आशा है, आप मेरी उत्कण्ठा का शमन अवश्य करेंगे।

आपका स्नेही

राधावल्लभ

[पत्र ४]

प्रिय राधावल्लभजी

आपका प्रेम-पत्र मिला। आपको यह जानने की बड़ी उत्कण्ठा है

कि मैंने आपकी प्रेम-कथा का हाल कैसे जाना। शायद आपको यह मालूम नहीं है कि निर्म्मला के पिता काशी में भी कुछ दिन रहे हैं और निर्म्मला मुझे तब से जानती है जब उसने आपकी एक भी कविता नहीं पढ़ी थी। आप परीक्षा में सच्चे अवश्य उतर रहे हैं, परन्तु, अभी मुझे और आगे चल कर देखना है कि आप ठीक-ठीक सब बातें बताते हैं या नहीं। जब आप अपना पूरा हाल समाप्त कर लेंगे तब मैं भी अपने रहस्य का उद्घाटन करूँगा। आपके पत्र की प्रतीक्षा कर रहा हूँ।

आत्म-समर्पण

पराग नहिं मधुर मधु,

नहिं विकास इहिँ काल।

कली ही तें बिंध्यो

आगे कौन हवाल।

—बिह

[पत्र ५]

प्रिय सरोज बाबू

आपका प्रेममय पत्र मिला। इस पत्र मे मैं आपको अपने उन मित्र महोदय पाण्डेयजी का परिचय कराऊँगा जिन्होंने मुझे प्रेम का पाठ पढ़ाने में मेरे गुरु का काम किया है और जिनके प्रयत्न के बिना, जैसा कि मैं पिछले पत्र में लिख चुका हूँ, मेरी कथा का सूत्रपात ही न होता। यद्यपि पाण्डेयजी की इच्छा यह नहीं थी कि इस प्रकार मेरा उपकार हो जाये, उसमें उनका यथेष्ट स्वार्थ भी था। परन्तु इससे मुझे कोई मतलब नहीं। हाँ, इस पत्र में मैं पाण्डेयजी के मनोभावों का चित्रण अवश्य करूँगा, क्योंकि, आज—जब सम्पूर्ण घटना समाप्त हो चुकी है और अपनी प्रेमिका से तथा पाण्डेयजी से भी मुझे बहुत सी बातें मालूम हो चुकी हैं—शान्त चित्त से विचारने पर मैं उनके भावों को अच्छी तरह समझ सकता हूँ।

नायिका-भेद के उदाहरण देखने के लिये मैंने एक दिन एक छन्दःशास्त्र का ग्रन्थ निकाला। उसमें पद्माकर कवि के निम्न लिखित छन्द ने मेरा ध्यान आकर्षित कर लिया—

झाँकती का हो झरोखे लगी ?

लगि लागिबे को इहाँ झेल नहीं फिर।

त्यों 'पद्माकर' तीछे कटाछनि ,
को सर कौ सर सेल नहीं फिर ॥
नैनन ही की घलाघली में ,
घले घावन को कछु तेल नहीं फिर ।
नेह-सरोवर में धँसि कै ,
हँसि कै कढ़िबो हँसी खेल नहीं फिर ॥

मैंने इस छन्द को ध्यान में रख कर निर्म्मला की स्थिति की आलोचना शुरू कर दी। मैंने मन ही मन कहा, निर्म्मला झाँकती है, मुसकराती है, किन्तु तीक्ष्ण कटाक्ष-पात वह कहाँ करती है ? धीरे-धीरे मुझे यह अनुभव होने लगा कि वह छन्द निर्म्मला के ऊपर लागू नहीं हो सकता, उसका देखना और ही ढंग का है, उसके हँसने के और ही अर्थ हैं। यदि ऐसा न होता तो इतने दिन मुझे यहाँ रहते हो गये वह लिख कर अपने प्रेम को प्रकट न करती ? उसके पास से जितनी किताबें आती हैं उन सब को आदि से अन्त तक मैं देख जाता हूँ किन्तु उसके हाथ का लिखा एक अक्षर भी नहीं दिखाई पड़ता। मैं इन्हीं विचारों में निमग्न था कि इतने में हरिहर शरण पाण्डेय नामक मेरे मित्र आ गये। पुस्तक बन्द करके मैंने उनका स्वागत किया।

प्रणाम-आशीर्वाद के अनन्तर पाण्डेयजी बैठे। बाद को ये पाण्डेयजी भी उस कोठरी में मेरे साथ रहने लगे। इन्हीं पाण्डेयजी की कृपा ने मेरी प्रेम-कथा के मौन-निमंत्रण के बाद प्रणय-निवेदन की बारी आने का अवसर दिया।

पाण्डेयजी ऐसे आदमी न थे कि वे किसी तरह चुपचाप पड़े रह सकें।

उनकी मौजूदगी का विज्ञापन उनके रोएँ-रोएँ से होता था। उनकी हँसी, उनकी बातचीत, उनकी दृष्टि यह घोषित किए बिना नहीं रह सकती थी कि यहाँ एक ज़िन्दा दिल आदमी रहता है। युवती और अर्द्ध युवती स्त्रियों को तो यह मालूम हुए बिना रह ही नहीं सकता था कि उनके आस-पास पाण्डेयजी नामधारी एक जीव आकर रहने लगा है। इसका कारण यह था कि पाण्डेयजी का जीवन दो ही बातों में व्यतीत होता था, या तो सुन्दरी स्त्रियों की खोज में या अपने संगी-साथियों में उन्हीं की चर्चा और उन्हीं से सम्बन्ध रखनेवाले हँसी-मज़ाक़ में।

मेरी कोठरी में आकर सब ठीक-ठाक करके पाण्डेयजी ने ज्योंही अवकाश पाया त्योंही वे इस बात का पता लगाने लगे कि इस बँगले में 'सीनरी' है कि नहीं। आप को यह बतला देना आवश्यक होगा कि अंग्रेज़ी में 'सीनरी' का अर्थ दृश्य पदार्थ है, विशेष कर प्राकृतिक दृश्य पदार्थ, किन्तु पाण्डेयजी के व्यक्तिगत कोष में इस शब्द ने एक विशेष अर्थ ग्रहण कर लिया था—सुन्दरी रमणी अथवा रमणियों का समूह। सब से पहिले उन्होंने पं० शारदानाथ के नौकर से मित्रता बढ़ाई और फिर उससे उनके घर की भीतरी बातें पूछनी शुरू कीं। जिस बात का पता पाने में मुझको तीन चार महीने बीत गये थे उसका पता पाण्डेयजी ने अपने कौशल-द्वारा एक ही दो रोज़ में लगा लिया। मैंने निर्म्मला को अच्छी तरह देखा था, उसकी मधुर बातें श्रवण की थीं, उसके बहुत कुछ विचारों से भी परिचय प्राप्त कर लिया था, परन्तु इतना होने पर भी यदि मुझ से पूछा जाता कि निर्म्मला की अवस्था क्या है, तो इसका उत्तर

देने के लिए मुझे अनुमान का ही सहारा लेना पड़ता। कहने का मतलब यह कि इतना परिचय होने पर भी निर्म्मला के सम्बन्ध की एक साधारण बात मुझे नहीं मालूम थी। उधर पाण्डेयजी ने बिना देखे सुने ही यह जानकारी प्राप्त करली कि पं० शारदानाथ की लड़की निर्म्मला सत्रह वर्ष की हो गई है और अभी उसका विवाह नहीं हुआ है।

नौकर से निर्म्मला जैसा सुन्दर नाम सुन कर मन ही मन पाण्डेयजी उत्कंठित और विकल हो उठे। इतनी जानकारी प्राप्त करने पर यदि पाण्डेयजी बातचीत का सिलसिला तुरन्त तोड़ देते तो नौकर के यह समझने का डर था कि इन्होंने किसी मतलब से यह बात पूछी है। यह सोच कर वे बड़ी देर तक दूसरी बातचीत भी करते रहे, किन्तु अब बातों में जी नहीं लगता था, उनकी इच्छा यह हो रही थी कि एकान्त में जाकर थोड़ी देर तक इस युवती की एक कल्पित मूर्त्ति बना कर उसका रूप-रस पान करूँ। ईश्वर की कृपा से नौकर स्वयं अपने काम से बँगले के भीतर चला गया। पाण्डेयजी चारपाई पर बैठे हुए सोचने लगे कि किस तरह निर्म्मला तक अपनी पहुँच हो। आठ बजे सवेरे का समय था। एकाएक पाण्डेयजी के दिमाग़ को यह सूझा कि इस छोटे बच्चे को ही अपने क़ाबू में लाना चाहिए। अफ़ीमची लोग पिनक में आने पर दुनियाँ की बादशाहत का मज़ा लूटते हैं, कविगण अपनी प्रेयसी का रूप-वर्णन करते-करते उपमा, अनुप्रास और ध्वनि के चक्कर में इतना अधिक पड़ जाते हैं कि प्रायः उन्हें प्रेयसी का ध्यान भी नहीं रह जाता। पाण्डेयजी न अफ़ीमची थे और न कवि। कल्पित जगत् का महत्त्व उनके लिए तभी

तक था जब तक वास्तविक वस्तु को प्राप्त करने की कोई सूरत उन्हें दिखाई नहीं देती थी। वे तुरन्त उस जगह पर पहुँचे जहाँ मैं श्याम को पढ़ा रहा था। एक चारपाई पर हम दोनों बैठे हुए थे। एक ओर को पाण्डेयजी भी बैठ गये। उसी समय उन्होंने देखा कि उनके पूरी तरह बैठने के पहिले ही कोई स्त्री, जो किवाड़ की झिलमिली के पास कमरे के भीतर खड़ी थी, शीघ्रता के साथ चली गई। जल्दी में पाण्डेयजी की आँखों ने जितना भी देख पाया उतने से उन्होंने अनुमान कर लिया कि हो न हो निर्म्मला यही है।

मैंने कहा—"कहिये, पाण्डेयजी, आज भोजन नहीं बन रहा है क्या ? पाण्डेयजी ने उत्तर दिया—"आज खिचड़ी छूटेगी, तबीयत लगा नहीं रही थी, मैंने कहा आज श्याम का पढ़ना देख आऊँ।" यह कह कर पाण्डेयजी ने एक हल्की चपत श्याम के मुँह में लगा कर पूछा—"क्यों पाठ ख़ूब याद करते हो या नहीं ?" श्याम ने केवल हँस दिया। आज इतने को ही काफ़ी समझ कर पाण्डेयजी ने मुझ से कहा—"श्याम की छुट्टी कर दो।" श्याम ने भी कहा—"देखो आज मैंने इतना पढ लिया है। अब छुट्टी देदो।" लड़के की बिनती, मित्र का आग्रह, और कुछ अपनी इच्छा से भी प्रेरित हो कर मैंने श्याम को छुट्टी देदी।

मै और पाण्डेयजी एक ही गाँव के रहने वाले ब्राह्मण थे। पाण्डेय-जी के इस जगह आजाने पर यह तय पाया था कि सबेरे वह भोजन बनावें और शाम को मैं। इसी निर्णय के अनुसार विलम्ब होने के भय से पाण्डेयजी ने खिचड़ी का प्रबन्ध करना शुरू कर दिया। आग जला कर शीघ्रता के साथ उन्होंने बटलोही को चूल्हे पर रक्खा और पानी के

थोड़ा सा गरम होते ही खिचड़ी में नमक छोड़ दिया। इसके बाद निश्चिन्त हो कर चारपाई पर आ लेटे और मुझसे इस प्रकार बात चीत करने लगे।

पां०—आज तो तुम्हारे पास पहुँचते ही मुझे 'सीनरी' का दर्शन हुआ। ऐसी मास्टरी मिले तो मैं तो कुछ फ़ीस न लूँ। तुम्हें मालूम है वह स्त्री कौन थी?

मैं—वह श्याम की बहिन है।

पां०—नाम मालूम है?

मैं—मालूम तो है पर तुम जान कर क्या करोगे? उसका नाम है निर्म्मला।

पां०—जैसा नाम है वैसी ही वह है भी। बिल्कुल नवीन कमल फूल की तरह उसका चेहरा भी है।

मैं—और आँखें?

पां०—आँखों के विषय में क्या कहूँ? एक कवि के स्वर में स्वर मिला कर यही कहूँगा कि—

नयन विलास पढ़ा है उसने,
सरल मृगी बालाओं से।

मैं—तो जान पड़ता है तुम उसे चाहने लगे हो। अभी तो अच्छी तरह देखा भी न होगा।

पां०—अजी जितना देखा है उतने ही में दिल खो बैठा हूँ। जब अच्छी तरह देखने को मिलेगी तो क्या जाने क्या दशा होगी?

मैं—भाई यहाँ ज़रा सम्हल कर चलना चाहिए। कृपा करके ऐसे दिलफेंक न बनना कि मेरे ऊपर आफ़त आजाय।

इस समय श्याम हिन्दी की अनेक पुस्तकें ले कर आता हुआ दिखाई पड़ा। मुझको किताबें दे कर उसने कहा—"दिदिया ने कहा है कि यदि इनमें से कोई तुम्हारे काम की हों तो उसे अपने पास रख लेना।" यह कह कर श्याम चला गया। उधर खिचड़ी तैयार होगई थी। पाण्डेयजी ने चौके में जा कर सँड़सी से बटलोही उतारी और खिचड़ी थाली में परसी। मैं भी पहुँच गया। दोनों ने भोजन शुरू कर दिया। पाण्डेयजी खा तो रहे थे लेकिन शायद उनका दिमाग़ कुछ और ही प्रश्न हल करने में लगा हुआ था। कुछ समय बाद उनके चेहरे से ऐसा मालूम हुआ मानो उनकी कठिनाई दूर हो गई। इतनी देर तक चुप रहने के बाद अब फिर वे आनन्द के साथ भोजन करने लगे।

इस समय कमरे में अँधेरा हो रहा है, संध्या हो गयी है, आलस्य दीया जलाने से मना कर रहा है, अतः विवश हो कर आज यहीं समाप्त कर रहा हूँ।

राधावल्लभ

[पत्र ६]

प्रिय सरोज बाबू

कवियों की कविता की प्रशंसा कर दीजिये, उनकी उपमाओं, उत्प्रेक्षाओं और अलंकारिक चमत्कारों के लिये 'वाहवा' कर दीजिए, फिर उनकी नकेल आप ही के हाथ में है, उन्हें चाहे जिधर ले जाइए। मैं कवि हूँ, और प्रायः सभी कवियों में रहनेवाली यह कमज़ोरी मुझमें भी है।

रविवार का दिन था। मैंने 'मकरन्द' नामक अपना काव्य

पाण्डेयजी को दिखलाया। पाण्डेयजी ने पहले कह दिया—"भाई छाया-वादी अस्पष्ट कविता तो मुझे पसन्द नहीं है, यदि स्पष्ट अर्थवाली कोई शृङ्गार-रस की कविता हो तो मुझे सुनाओ। मैंने कापी के पन्ने उलटते हुए कहा—"शृङ्गार-रस की भी है सुनो।"

किसकी घुँघराली अलकों पर,
अलि-अवली बलि जाती।
किसकी बंक भृकुटि-अवलोकन,
से परवशता आती।
किसकी लोचन-मादकता से,
मदिरा का मद भागा।
किस मुख-पङ्कज से खिंच अलि ने,
कंज-विपिन को त्यागा।
किसके स्वर से बधिक करों में,
पड़ी मृगी मतवाली।
मानसरोवर चली गई लख,
किसकी चाल मराली।
मधु से मधुर हास किसका है,
नव वसन्त सा यौवन।
कोई मुझे बता दे किस पर,
मैं वारूँ अपनापन।

इस कविता को सुन कर पाण्डेयजी फड़क उठे, उन्होंने मुक्त कण्ठ

से इसकी प्रशंसा करके कहा—"अगर नाराज़ न हो जाओ तो इस कविता के अन्त में किये गये तुम्हारे प्रश्न का कुछ उत्तर दूँ। मैंने उत्कण्ठा-पूर्वक कहा—"हाँ हाँ, कहो।"

पाण्डेयजी ने कहा—"निर्म्मला।" मैं बोला—"तो क्या तुम्हारा कथन है कि इस कविता में जितनी बातें कही गयी हैं वे सब निर्म्मला में मौजूद हैं?" पाण्डेयजी ने कहा—"अजी मैं तो यह कहता हूँ कि उसी को लक्ष्य करके तुमने यह कविता लिखी है। संसार में जितने बड़े-बड़े कवि हुए हैं सब किसी न किसी स्त्री के ऊपर आसक्त थे। नारी-प्रेम ने उनकी कवित्व-शक्ति को विकसित करने में बहुत बड़ी सहायता दी है। वर्ड्स-वर्थ की प्रेम-पात्री लूसी थी, बाइरन की मेरी और दान्ते की एक आठ वर्षों की लड़की। प्रेम में निराश होकर कीट्स इस संसार से विदा हो गया। शेली नामक कवि के विषय में कहने की आवश्यकता नहीं। अपने यहाँ भी कालिदास, बिहारीलाल, आलम आदि कवियों के जीवन में नारी-प्रेम ने बड़ा काम किया है। मैंने इतनी अधिक संख्या में अच्छे कवियों में यह बात देखी है कि अब मेरा यह पक्का ख़याल हो गया है कि प्रायः समस्त कवियों की कविता में नारी-प्रेम प्रेरक रूप में विद्यमान रहता है। यही बात मैं तुम्हारी कविता में भी देख रहा हूँ।"

मैं कई कारणों से पाण्डेयजी के इस व्याख्यान से प्रभावित हो गया। बड़े-बड़े कवियों का नाम ले कर तथा मुझे भी उन्हीं की मण्डली में बैठा कर पाण्डेयजी ने बड़ी होशियारी का काम किया था। किसी दूसरे मौक़े पर मैं यह चर्चा छिड़ने पर तुरन्त ही कहता कि नारी का प्रेम

निस्सार है, अज्ञान पर अवलम्बित है। ऊँचे दर्जे की कविता के लिए सच्ची प्रेरणा दूसरे के दुःख से उत्पन्न करुणा से मिलती है। किन्तु इस समय मैं पाण्डेयजी के कथन का खण्डन उसी प्रकार न कर सका जिस प्रकार रात को कमल के कोष में बँध जाने पर भौंरा उसे वेध नहीं पाता। दूसरी बात यह कि पाण्डेयजी का ताड़ना था बिलकुल सही, मेरी यह कविता सचमुच निर्म्मला को लक्ष्य करके लिखी गई थी। मैंने मुस्करा कर कहा "पाण्डेयजी, ठीक कहते हो।" पाण्डेयजी ने विजयसूचक एक अट्टहास किया।

क़िले के पहिले फाटक के टूटने पर जो हर्ष आक्रमणकारी को होता वही हर्ष पाण्डेयजी को उस समय हुआ। वे फिर बोले, "किन्तु यह भी प्रायः देखने में आता है कि कविगण क्रियाशील नहीं होते। दूर कहाँ जाऊँ, तुम्हारा ही उदाहरण लेता हूँ। तुम्हें यहाँ छः महीने रहते हो गये, तुम्हारी प्रेम-पात्री तुम्हारे सामने आती है, तुम्हारे पास प्रेम-पूर्व्वक पुस्तकें भेजती है और फिर केवल कविता की पंक्तियों में अज्ञात, अलक्ष्य रूप से तुम्हारा प्रेम प्रकट होता है। तुम्हें कभी यह भी सूझा कि अपनी प्रेम-वार्त्ता उसके कानों में तो डालूँ?"

मैं—भाई मेरा साहस तो इतना अधिक नहीं हो सकता। मेरे पढ़ाने के समय जब वह प्रायः आ जाया करती है तब मैं अपने को और भी आड़ में कर लेता हूँ। मैं यह नहीं समझने देना चाहता कि मै उसको प्यार करता हूँ। वह ऐश्वर्य्यवान् कन्या है। मैं ग़रीब का लड़का हूँ। इस दशा में बौना होकर चन्द्रमा के लिए हाथ बढ़ाने की हिम्मत मुझमें नहीं होती।

पां०—राधावल्लभ ! भूल करते हो, प्रेम के दरबार में न कोई राजा है और न कोई रङ्क। वहाँ तबियत भर मिल जानी चाहिए, दिल में लगन भर जग जानी चाहिए।

पाण्डेयजी का यह व्याख्यान अभी समाप्त नहीं हुआ था कि इतने ही में चपरासी ने आकर मुझको सूचना दी कि पंडितजी बुला रहे हैं। मैं तुरन्त कपड़े आदि ठीक करके रवाना हो गया। इस बाधा से पाण्डेयजी खीझे तो अवश्य, किन्तु यह सोच कर उन्होंने सन्तोष किया कि खेत में बीज डाल दिया गया है और आगे केवल इतना ही आवश्यक है कि थोड़ी खाद पात और सिँचाई का काम किया जाय।

मनुष्य सब कुछ छिपा सकता है किन्तु उन बातों को नहीं छिपा सकता जो अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा उसे अधिक भाग्यवान या गुणवान प्रमाणित करती हैं। यदि किसी दरिद्र आदमी को एक दिन राजकुमार अपनी गाड़ी में बैठा कर हवा खिलादें तो अपनी श्रेणी के लोगों में बैठ कर क्या वह रङ्क अपने इस सौभाग्य की चर्चा कभी कभी गर्व के साथ न करेगा ? इसी प्रकार जिसे किसी स्त्री ने कभी सुन्दर नहीं कहा उसे देखने के लिए जब एक सुन्दरी और सुशिक्षिता युवती लालायित रहा करे, अपनी मधुर मुसकान का रस बिना याचना के ही पिलाया करे, तब फिर वह अकिञ्चन अपने को धन्य क्यों न समझे तथा अपने भाग्य की यह कथा अपने मित्रों को क्यों न सुनावे ?

मैं इस बात की प्रतीक्षा कर रहा था कि पाण्डेयजी बात चलावें तो उसी प्रसङ्ग में मैं निर्म्मला की कृपा-सम्बन्धी समस्त कथा सुनाऊँ।

किन्तु पाण्डेयजी ने इस सम्बन्ध में बिल्कुल चुप्पी साध ली। अन्त में मैंने स्वयं इस प्रसङ्ग को छेड़ा और बातों ही बातों में सब कुछ पाण्डेयजी को सुना दिया। पाण्डेयजी गम्भीरतापूर्वक बोले—"इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि निर्म्मला तुम्हें चाहती है, किन्तु।" मैंने अधीर होकर कहा, "तो तुम्हारे इस 'किन्तु' का क्या अर्थ है ?"

पां०—मेरे इस 'किन्तु' का आशय यह है कि निर्म्मला आप को चाहती है तो इससे आप यह न समझ लें कि वह स्वयं आप की गोदी में आ बैठेगी। भाई, तुम तो स्वयं कवि हो, क्या मुझको उलटा तुम्हे यह समझाना होगा कि ११ वर्ष से लेकर १७ वर्ष तक की अवस्था वाली स्त्रियाँ मुग्धा कही जाती हैं।

मैं—तो इससे तुम्हारा क्या आशय है ?

पां०—मेरा आशय क्या है यह अब मैं तब बतलाऊँगा जब तुम कविता करना छोड़ दोगे और अपने पिंगल ग्रन्थ को गंगा में बहा दोगे। इसी से तो लोग कहते ही हैं कि कवियों में क्रियाशीलता नहीं होती। केवल कल्पना ही कल्पना से काम रहता है। मुग्धा नायिका के लक्षण क्या हैं, क्या तुम्हें यह नहीं मालूम है ? क्या तुम जैसे कवि को मुझे बतलाना पड़ेगा कि मुग्धा बाला वह है जो 'नैनन में चाह करै बैनन में नहिँ याँ।' कहने की आवश्यकता नहीं कि निर्म्मला की गणना भी मुग्धा स्त्रियों में ही होगी। इस दशा में तुम्हीं को अपना प्रेम उस पर प्रकट करना होगा।

मैं—तो क्या मैं उसे प्रेम-पत्र लिखूँ ?

पा०—और [illegible] तो क्या ?

मैं—किन्तु क्या ऐसा करना विपद-जनक नहीं है ?

पा०—क्या कण्व के आश्रम में दुष्यन्त का शकुन्तला से प्रेम करना विपद-जनक नहीं था ? महर्षि यदि शाप दे देते तो ? किन्तु क्या इस विचार ने उनके प्रणय-पथ में बाधा डाली ? क्या श्रीकृष्ण की बहिन सुभद्रा का हरण करना अर्जुन के लिये विपद-जनक नहीं था ? संसार में संकट और विपत्तियाँ तो पग पग पर हैं ।

मैं—परन्तु आश्रयदाता के साथ विश्वासघात तो न करना चाहिए । मेरे कष्ट के समय उन्होंने मेरी सहायता की है, उनके उपकार को कैसे भूलूँ ।

पा०—जिसने तुम्हें एक छोटी कोठरी दे दी है उसका तो तुम्हें इतना ख़याल है किन्तु उसकी ओर तुम्हारा तनिक भी ध्यान नहीं है जिसने हज़ारों हीरों और जवाहिरों से असंख्य गुना बहुमूल्य प्रेम से परिपूर्ण हृदय तुम्हें दिया है । तुम्हारी दलीलें कितनी पोच और भीरुता-सूचक हैं !

इतने में एक अन्य मित्र आ गये और दूसरे ढंग की बातें होने लगीं ।

धीरे धीरे पाण्डेयजी ने मेरे चारों ओर ऐसा वातावरण तैयार कर दिया कि युवती स्त्रियों से सम्बन्ध रखनेवाली प्रेम-कथाओं के सिवाय और कुछ मुझे पसन्द ही न आता । अपनी अन्तरात्मा के विरोध को मैंने इतनी अच्छी तरह कुचल दिया कि अब मुझको निर्म्मला के पास प्रेम-पत्र लिखने में कोई बुराई ही न मालूम होती थी, यही नहीं, अब मैं यह सोच कर पछताता था कि मेरे छः मास व्यर्थ ही गये । अपने जिस लज्जा-

शील और सरल स्वभाव के कारण मैं निर्म्मला के प्रेम को स्वीकार करने के लिए अपनी ओर से एक पग भी आगे न बढ़ सका, जिसने मेरे चरित्र की रक्षा की, जिसने मुझे अनेक संकटों से बचाया—उसी को अब मैं एक बड़ी भारी त्रुटि, बड़ी भारी कमी समझने लगा।

मैंने एक कविता बना कर पाण्डेयजी को सुनाई, उन्होंने उसे अच्छी बतलाया और निर्म्मला के पास भेजने की अनुमति दे दी।

आँख की किरकिरी नामक उपन्यास में कविता के काग़ज़ को रख कर मैंने श्याम को पुस्तक दे दी और सीधे दिदिया के पास पहुँचाने की ताकीद कर दी। श्याम ने ऐसा ही किया।

थोड़ी देर बाद मैंने श्याम से कहा—"पुस्तक तो तुमने पहुँचा दी न?" श्याम ने कहा, "हाँ"।

मैं—कुछ कहती भी थीं?

श्याम—नहीं, उसको अपने बक्स में रख लिया।

मैं—और, मेरे लिए कोई किताब नहीं दी।

श्याम—नहीं।

मैं—तो मेरे लिए भी कोई किताब लाओ।

श्याम भीतर गया, थोड़ी देर में लौट कर उसने कहा, "कहती हैं, आज नहीं दूँगी, तबीयत ख़राब है।"

इस उत्तर को सुन कर मैं डरा कि मेरी कविता से निर्म्मला बुरा न मान गई हों। यदि वह पत्र किसी तरह निर्म्मला के हाथों तक न पहुँच कर वापिस मिल सकता तो सम्भवतः अब मैं प्रसन्न होता, किन्तु यह सोच

कर कि इस समय तक तो उसने कविता पढ़ ही ली होगी और जो कुछ होना होगा सो होकर ही रहेगा, मैंने हृदय को दृढ़ किया।

मैंने पाण्डेयजी से पूछा—"क्यों, यदि निर्म्मला मेरी कविता अपने पिता को दिखा दे तो? इस दशा में तो मैं कहीं का न रह जाऊँगा।"

पाण्डेयजी ने अट्टहास करके कहा, "कवि अवश्य हो, लेकिन रसिकता की राह पर अभी पाँव नहीं रक्खा है, अपने इस छोटे से जीवन में मैं यह खेल न जाने कितना खेल चुका हूँ। हिन्दू स्त्रियों का यह स्वभाव है कि जिससे वे स्वयं प्रेम करती हैं उसकी बात तो जाने दो, जिसके प्रति उनके हृदय मे घृणा का भाव उत्पन्न हो जाता है उसके विरोध में भी वे अपने माता-पिता से कुछ नहीं कहतीं। इसका कारण उनकी लज्जा और उनका सङ्कोच है। भीरु मत बनो, आज ही कल में तुम्हे अपने पत्र का उत्तर मिलेगा।"

मेरे हृदय में फिर साहस, उत्कण्ठा और अनुकूल उत्तर मिलने की आशा से उत्पन्न आनन्द का संचार हुआ।

दूसरे दिन श्याम के पढ़ने के समय निर्म्मला नहीं आई। जहाँ वह प्रायः खड़ी होती थी उस ओर मैं बारम्बार देखता रहा। आँखें ऊपर उठाने के पहिले मेरा हृदय इस आशा से भरा रहता था कि अब वह दिखाई पड़ेगी, किन्तु जब वह दृष्टि-गोचर न होती तब निराश, आशंकित और दुखी हो जाता था। श्याम का पढ़ना समाप्त हो गया, फिर भी वह न दिखाई पड़ी। चलते-चलते मैंने श्याम से पूछा, "क्या तुम्हारी दिदिया की तबियत अधिक ख़राब होगई है?" श्याम ने कहा—'कहती हैं, सिर

में दर्द है, कल उन्होंने कुछ खाया भी नहीं।' इस उत्तर को सुन कर मैं कुछ घबरा गया, सोचा, क्या मेरे पत्र के कारण दुखी होकर तो निर्म्मला ने भोजन नहीं खाया? मन ही मन कहने लगा—"हे ईश्वर! इसका मौनावलम्बन तो बहुत कष्टकर है, इससे कहीं अच्छा तो यह था कि मेरे ऊपर वज्र ही गिर पड़ता।"

कई दिन बीत गये, मेरे पढ़ाने के समय निर्म्मला नहीं आई। मुझको धीरे-धीरे यह भी अनुभव होने लगा कि मैंने कोई अपराध किया है। पाण्डेयजी से मैंने कहा—"जान पड़ता है, इस पत्र का भेजना अच्छा नहीं हुआ।" पाण्डेयजी मुझे बहुत समझाते, जिस समय वे स्वयं ऐसी स्थिति में कभी पड़े थे उस समय की बातें कह कर मेरा प्रबोध करने की चेष्टा करते, किन्तु, उनकी बातों का मुझ पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता था, वह तर्कों द्वारा मेरे उन भावों को पराजित करने का प्रयत्न करते जो निकट संकट और विच्छेद की आशंका मेरे सन्देहशील मन में लगातार उत्पन्न कर रही थी। अब यदि पं० शारदानाथ मुझे अपने किसी काम से बुलवाते तो मेरे हृदय में यही ध्वनि उठती कि अब कुशल नहीं है, जान पड़ता है निर्म्मला ने अपने पिता को मेरे अधर्म-व्यापार की सूचना दे दी है। जाते समय मार्ग में मैं यही चित्र अपने सामने चित्रित सा देखता कि मै अपराधी की भाँति सिर नीचा किए खड़ा हूँ और पंडितजी लाल लाल आँखें करके डाट रहे हैं। मुझे पंडितजी के क्रोध भरे ये शब्द स्पष्ट सुनाई पड़ते, "विश्वासघाती नराधम! क्या मैंने तुझे इसी दिन के लिए आश्रय दिया था? दार्शनिक और कवि होने की इच्छा

रखनेवाला होकर तू मुझे ऐसा धोखा देगा, इसे मैं नहीं जानता था।"
पंडितजी के सामने पहुँचने के समय तक मैं घबराहट में डूबा रहता और जाग्रत-काल का मेरा यह स्वप्न तब भंग होता जब वे मुझसे कोई दूसरी ही चर्चा छेड़ते। संध्या को घूम कर जब मैं बँगले के भीतर प्रवेश करता तब मुझे ऐसा मालूम होता था मानो नौकर-चाकर सभी मेरे अपराध की बात जान गये हैं और यह घबराहट मेरे हृदय में तब तक रहती जब तक मैं उनकी बात चीत के ढंग और विषय से पूरी तौर पर परिचित न हो जाता।

कविता जाने के चौथे दिन पढ़ाना समाप्त करने के बाद ज्यों ही मैं अपनी कोठरी की ओर जाने को उठा त्यों ही मेरे सामने निर्म्मला किवाड़ की झिलमिली के बाहर एक पुस्तक गिराकर चली गई। यह वही पुस्तक थी जिसे मैंने भेजा था—आँख की किरकिरी। पुस्तक उठाने के पहिले मैंने उस काग़ज को उठा लिया जो उस में रक्खा था, किन्तु, उसके गिरने के समय उसमें से निकल गया था। उस काग़ज़ को पुस्तक के भीतर रख कर मैं पढने लगा। उसे मैं आज तक एक अनमोल रत्न की तरह सुरक्षित रूप में रक्खे हूँ और आज भी उस में की गयी भर्त्संना के एक एक अक्षर को पढ़ कर अपूर्व आनन्द-रस का आस्वादन करता हूँ। आप के मनोरञ्जनार्थ उसे मैं इस पत्र के साथ रवाना कर रहा हूँ। कृपया उसे लौटा दीजिएगा।

भवदीय

राधावल्लभ

[पत्र ७]

प्रिय महोदय

"आँख की किरकिरी" में आपने जो परचा रख दिया था, उसे मैंने अच्छी तरह पढ़ा और उस पर बहुत विचार किया है। आपकी कविता के असली उद्देश को समझ कर अन्त में मैं जिस निर्णय पर पहुँची हूँ वह यह है कि जिस समय आपने उसे लिखा उस समय आपका मस्तिष्क ठीक नहीं था, क्योंकि इतने उच्च शिक्षा-प्राप्त और विवेक-युक्त होकर आप पाप के पथ पर इस तरह अंधे होकर पाँव रक्खेंगे यह मुझे आश्चर्य-जनक मालूम होता है। अब तक मैं आपको अपने बड़े भाई की तरह मानती थी और श्रद्धा की दृष्टि से देखती थी, किन्तु अब विश्वास हो गया कि मैंने आपकी सादी रहन-सहन और भोले-भाले चेहरे से धोखा खाया। अब मुझे विश्वास हो गया कि साधु के भेष में भी अनेक ठग, व्यभिचारी और अधर्मी पुरुष घूमा करते हैं। मैं आपको अच्छी तरह सचेत किये देती हूँ कि इस तरह की धृष्टता भविष्य में मेरे साथ न करना, और यदि की तो याद रक्खो मैं आपके ऊपर अपने प्राण दे दूँगी।

निर्मला

[पत्र ८]

कलकत्ता

प्रिय सरोज बाबू

मैं आपके पत्र की प्रतीक्षा ही करता रह गया। न आपने कोई

उत्तर ही भेजा और न मेरा पत्र ही लौटाया। आपने यह अच्छा तमाशा किया जो रुई के ढेर पर चिनगारी फेंक कर स्वयं बिलकुल चुपचाप हो गये। अस्तु। उस पत्र का मेरे ऊपर क्या प्रभाव पड़ा होगा, यह तो आप स्वयं समझ सकते हैं। उसे पढ़ कर तो मैं बिलकुल सन्नाटे में आ गया। मेरी आँख के आगे अँधेरा छा गया। पहिली बार पढ़ने पर तो मैं अवाक् ही रह गया। दो तीन बार पढ़ने पर मुझे वह पत्र उतना बुरा नहीं लगा जितना पहिली बार लगा था। मेरे मुँह से आपही आप निकल गया, "अच्छा धोखा खाया।" कोठरी में आने पर मैंने निर्म्मला के उत्तर की चर्चा पाण्डेयजी से चलायी। पाण्डेयजी ने कहा, "चिट्ठी मुझे दिखलाओ।" मैंने कुछ विचारे बिना ही कह दिया—"मैंने तो उसे फाड़ डाला।" पाण्डेयजी बोले—"इस फ़न में पूरे नौ सिखिए जान पड़ते हो, प्रेम-पात्री की चिट्ठियों की क़दर करना तुम्हें नहीं मालूम। अच्छा ठीक ठीक यही बताओ कि उसमें क्या लिखा था? मेरे कानों में चिट्ठी के शब्द अभी गूँज रहे थे। मैंने प्रायः सारी बातें सुना दीं और उस अन्तिम वाक्य को भी सुना दिया जिसमें निर्म्मला ने मेरे दूसरी बार धृष्टता करने पर प्राण दे देने की बात लिखी थी। पाण्डेयजी ने उत्कण्ठापूर्वक पूछा—क्या कहा, "उसके ख़ास शब्द याद हैं तुम्हें?" मैंने कहा—"हाँ वह वाक्य तो मुझे पूरा कण्ठ हो गया है, उसने लिखा था—'मैं आपको अच्छी तरह सचेत किये देती हूँ कि ऐसी धृष्टता मेरे साथ न करना और यदि की तो याद रक्खो मैं आपके ऊपर अपना प्राण दे दूँगी।' पाण्डेयजी ने

मुसकराते हुए कहा, "राधावल्लभ! तुम्हारे लिए यही वाक्य आशाप्रद है, जो स्त्री तुम्हारी धृष्टता के कारण तुम पर प्राण दे सकती है समझ लो कि वह तुम्हारे ऊपर अनुरक्त हो चुकी है, अब आवश्यकता केवल इस बात की है कि तुम एक दूसरा पत्र भेजो।" मैं बोला—"एक पत्र लिख कर तो मैंने उसका फल चख लिया, अब दूसरा पत्र लिखने की मुझ मे हिम्मत नहीं है।" पाण्डेयजी चुप रह गये।

उस दिन मैं अकेला ही घूमने के लिए गया। निर्म्मला की चिट्ठी के शब्द मेरे कानों में गूँज रहे थे—आप पाप के पथ पर इस तरह अंधे होकर पाँव रक्खेंगे, यह मुझे आश्चर्य-जनक मालूम होता है। ....अब विश्वास हो गया कि मैंने आपकी सीधी-सादी रहन-सहन और भोले-भाले चेहरे से धोखा खाया।.........साधु के भेस मे भी अनेक ठग, व्यभिचारी, और अधर्म्मी पुरुष घूमा करते हैं'—ये शब्द रह रह कर मेरे हृदय को चोट पहुँचाते थे। कुछ देर तक तो यह सोच कर कि मुझसे बड़ी भारी ग़लती हुई, मुझे ऐसा न करना चाहिए था, मुझे बड़ा दुख होता रहा, फिर मेरे मन में यह विचार उत्पन्न हुआ कि आख़िर मैंने ऐसी ग़लती की क्यों? इस प्रश्न की मीमांसा करते-करते मैंने चोट खाये हुए हृदय से पूछा—"क्या इस ग़लती के होने में निर्म्मला का कुछ हाथ ही नहीं है? पढ़ाने के समय ही वह नित्य वहाँ क्यों आया करती थी, किवाड़ के बाहर सिर निकाल कर वह मुझे क्यों निहारती थी? मुझे देख कर वह क्यों हँसती मुसकराती थी? यह सब क्या था? इसका अर्थ मुझे प्रेम-पथ पर प्रोत्साहित करना नहीं तो और क्या था?

जब स्वयं ही इस प्रकार हाव-भाव करके उसने मुझे अपनी अनुराग-वाटिका में मौन-निमंत्रण दिया तब मेरे प्रवेश करने पर वह मुझे डाटने-वाली कौन होती है? हृदय ने उत्तर दिया, "निस्सन्देह, निर्म्मला के व्यवहार में विरोधाभास है, और उसका इतनी कड़ी चिट्ठी लिखना दंडनीय है।" बड़ी देर तक मैं यह सोचता रहा कि निर्म्मला को क्या दण्ड दिया जाय?

अन्त में मैंने पाण्डेयजी ही की बात मानी और निर्म्मला के पास एक दूसरा पत्र भेजने का निश्चय किया, किन्तु यह विचार भी पक्का कर लिया कि यह चिट्ठी प्रेम-पूर्ण न होकर क्रोध-पूर्ण हो, निर्म्मला को खूब अच्छी फटकार मिलनी चाहिए। अँधेरा हो गया था। अब मैं बँगले को लौटा। पाण्डेयजी को अपने विचार से सूचित करने के बाद मैंने निर्म्मला को निम्नलिखित आशय का पत्र लिखा—

आपका पत्र मुझे मिला। आपको इस बात पर आश्चर्य्य हुआ है कि मैं एक ऊँची कक्षा का विद्यार्थी होकर भी पाप के पथ पर कैसे पाँव दे रहा हूँ। इसके सम्बन्ध में मैं यही कहूँगा कि आपका आश्चर्य्य करना कोई अर्थ नहीं रखता। बड़े से बड़े विद्वान, बड़े से बड़े वक्ता, राजनीतिज्ञ, तत्ववेत्ता और कुशल से कुशल लेखक और कवि किसी किसी समय विवश होकर नारी के प्रति प्रेम के कोमल धागे में बँधे हैं। कवियों का चित्त तो विशेष कोमल, दुर्बल और प्रभावित होनेवाला होता है। परन्तु, इससे आप यह न समझें कि मैं पाप-पथ पर पाँव रखने के अपने अपराध को हलका प्रमाणित करने की चेष्टा कर रहा हूँ। मैंने यह

सब इसीलिए लिखा है कि आप केवल मेरी उच्चशिक्षा के कारण मेरे पाप-पथ के पथिक होने पर आश्चर्य न करें।

अब रहा यह प्रश्न कि मुझसे इतनी बड़ी धृष्टता और इतना बड़ा पाप-कर्म्म कैसे हो गया? मैं अपनी नीचता को स्वीकार करता हूँ, परन्तु मैं आप से यह अवश्य पूछूँगा कि क्या मेरी इस अनधिकार और अमर्यादित चेष्टा को प्रोत्तेजित करनेवाली आप नहीं हैं? जब आप परदे में रहती हैं तब आपने अपने को मुझे क्यों दिखलाया। यदि आप स्वयं प्रकट न होतीं तो मैं आप को जानता ही कैसे? आप इस बात को स्वीकार करेंगी कि मैंने आपको देखने की कोई चेष्टा नहीं की, यहाँ तक कि जब जब मुझे अवसर भी मिले तब तब मैंने उनका पूरा उपयोग नहीं किया। जब एक दिन आपके आँगन में मैं भोजन कर रहा था; तब, आपको याद होगा कि श्याम ने कहा था "देखो वे तुम्हें देख रही हैं", उस समय यदि मैं सिर उठा कर आपकी ओर देखता तब आप यह कहतीं कि यह बड़ा धृष्ट है। जब मैं श्याम को पढ़ाने बैठता था तब झिलमिली के सूराख में से कौन मेरी ओर निहारा करती थी? और, पढ़ाने के पहिले जब मैं बरामदे में बैठ कर कुछ काम किया करता था तब कौन चुपके चुपके मेरी ओर देखती तथा मेरी आँखों के उठते ही केवल अपना आभास मात्र दे कर ओझल हो जाती थी? जो स्त्री परदे में रहती है उसको मेरे सामने आने का क्या अधिकार है? मेरे दातौन करते समय आप किसी दिन दरवाज़े के पास आकर मुसकरा कर, क्यों चली गई थीं? मेरे नहाने के समय प्रायः आप सिर निकाल कर मुझे क्यों देखती थीं? इस दशा में

आप ही विचार कर सकती हैं कि धृष्टता किसने की ? हाँ, मेरा अपराध इतना अवश्य है कि मैं एक दम से सीमोल्लंघन कर गया। जो हो आज आपके सामने मैं अपराधी अवश्य हूँ। आशा है, आप मुझे क्षमा करेंगी।

राधावल्लभ

इस पत्र को लिख कर मैंने पाण्डेयजी को दिखलाया। पाण्डेयजी बेहद खुश हुए, कहने लगे—"इस पत्र के पहुँचने पर सफलता निश्चित है।" फिर पूछा—"कब भेजोगे ?" मैंने उत्तर दिया, "कल सबेरे"। पाण्डेयजी निश्चिंत हो गये।

थोड़ी देर बाद पाण्डेयजी ने मुझसे कहा, "किन्तु, तुम्हारी चिट्ठी का जैसा प्रभाव रात में पड़ेगा वैसा दिन में नहीं। इसका कारण यह है कि दिन में निर्म्मला भी इधर-उधर के कामों में लगी रहती है। इसके अतिरिक्त ऐसी गोपनीय चिट्ठियों को पढ़ने के लिए पूरा एकान्त चाहिए। रात का समय ऐसा होता है कि उसे पूरी फ़ुरसत रहती है, फिर, सब अपने-अपने कमरे में सोने चले जाते हैं। ऐसी स्थिति में निर्म्मला को तुम्हारी चिट्ठी पढ़ने, उस पर मनन करने, तथा उसका तुरन्त उत्तर लिखने का समय रात ही में मिलेगा।"

इधर ये बातें हो ही रही थीं कि इतने में मेरे एक मित्र आ गये। दूसरे दिन रविवार था, इसलिए वे मुझको साथ लेकर सैर-सपाटे के लिए कहीं जाना चाहते थे। पाण्डेयजी से भी उनका थोड़ा परिचय था। दस-पाँच मिनट तक इधर-उधर की बातें करते रहने के बाद

उन्होंने अपने मतलब की बात छेड़ दी। मैं बड़ी दुविधा में पड़ गया। मैंने पाण्डेयजी का आशय जानने के उद्देश्य से उनकी ओर देखा। उन्होंने मेरे मित्र की ओर मुख करके कहा—कल तो यहाँ इनका बड़ा ज़रूरी काम है, आप इन्हें कैसे ले जा सकते हैं ?"

मित्र—क्या काम है ?

पां०—कुछ है, अब आप उसको जान कर क्या करेंगे ?

मित्र—हम भले ही कुछ न करें, पर राधावल्लभ की हर एक बात जानने का हमें अधिकार है।

पां०—लेकिन यह काम केवल राधावल्लभ का नहीं है बल्कि मेरा भी है, और मेरे सब कामों को जानने का आपको अधिकार नहीं है।

मित्र—अच्छा; अगर राधावल्लभ कहे तो मैं लौट जाऊँ।

पाण्डेयजी ने आशा-पूर्ण दृष्टि से मेरी ओर देखा, किन्तु सच बात यह थी कि मैं अपने इन मित्र महोदय के आग्रह को टाल नहीं सकता था, मैंने कहा, "पाण्डेयजी, अब चला ही जाऊँ।"

पाण्डेयजी ने निराशा-पूर्ण स्वर में कहा, "जब तुम्हीं जाना चाहते हो तब मैं क्या कह सकता हूँ।"

इस यात्रा से मैं सोमवार को लौटा। उसी दिन मैंने एक पुस्तक में रख कर अपने पत्र को निर्म्मला के पास भेज दिया।

पत्र जाने के दो तीन घण्टे बाद पाण्डेयजी ने अपने शरीर की ख़ूब अच्छी सजावट की। उस दिन उन्होंने विशेष रूप से विधिवत् स्नान किया तथा शिर में केशरञ्जन तैल लगा कर उम्दा से उम्दा कपड़े पहिने।

इसके बाद पान का बीड़ा मुँह में डाल कर बँगले के बरामदे में वे आ विराजे और वहाँ पंडितजी के ड्राइङ्ग रूम में से एक आराम कुर्सी ले कर आराम के साथ एक उपन्यास पढ़ने लगे। उस दिन पंडितजी काम से कहीं बाहर चले गये थे, इसलिये पाण्डेयजी कालेज न जा कर निर्म्मला का ध्यान आकर्षित करने पर ही तुल गये। कालेज के लिए मेरे हाथ एक अर्ज़ी उन्होंने भेज दी। निर्म्मला को यह पता लग गया कि आज पाण्डेयजी के सिर में दर्द है और इसी कारण वे आज पढ़ने न जाकर बरामदे में आराम कुर्सी में लेटे हैं। वह भूल कर भी उस ओर को न आई। प्रतीक्षा करते-करते चार बज गया, अब पाण्डेयजी निराश हो गये। मैं भी पढ़ कर आ गया। वे बरामदे से उठ कर कोठरी में चले गये।

किन्तु पाण्डेयजी जीवट के आदमी थे, इस तरह की न जाने कितनी निराशाओं से उनका पाला पड़ चुका था। उन्होंने यह कह कर अपना समाधान कर लिया कि मैंने जल्द बाज़ी भी तो की, आज तो वह राधा-वल्लभ की चिट्ठी को पढ कर क्रोध के मारे ही अस्थिर-चित्त हो रही होगी।

दूसरे दिन जब मैंने श्याम को पढ़ाना शुरू किया तब पाण्डेयजी इस तरह लचकते हुए आ कर बरामदे में बैठ गये मानो दुनिया की सारी ख़ूबसूरती का बोझा उन्हीं पर पड़ गया हो। आज के दिन उन्हें बड़ी-बड़ी उम्मीदें थीं, सोच रहे थे कि राधावल्लभ की कुरूपता और मेरी सुन्दरता को वह आज एक ही साथ देख लेगी। लेकिन फिर समय प्रतीक्षा ही में बीता, निर्म्मला नहीं आई। उन्हें यह ख़याल हुआ कि राधावल्लभ

से नाराज़ होने के कारण वह नहीं आई, इसलिये उसके चले जाने के बाद भी वे कुछ न कुछ बहाना बना कर घण्टों बैठे रहे, परन्तु निर्म्मला की सूरत का कहीं पता नहीं था।

पाण्डेयजी अनेक यत्न करके हार गये, परन्तु निर्म्मला छिप कर अथवा प्रत्यक्ष रूप से उनके अपार सौन्दर्य और रूप-रस का पान करती हुई कहीं नहीं देखी गई। इधर पाण्डेयजी विकल थे, उधर मैं एक दूसरे ही प्रकार की व्याकुलता का अनुभव कर रहा था। वह क्या थी इसे भी मैं बतलाये देता हूँ।

जब हम किसी को कटु वचन कहते हैं और हमें आशा रहती है कि इनसे उसे कष्ट होगा तब हम यह भी चाहते हैं कि उसके मुँह से 'हाय' 'आह' आदि शब्द निकलें और हम उन्हें सुनें। निर्म्मला ने मुझको रुष्ट कहा था, इसके उत्तर में मैंने उसी पर अनेक अभियोग लगा दिये थे। अब मैं चाहता था कि अपने इन अभियोगों का परिणाम देखूँ। किन्तु निर्म्मला चुप थी, न दिखाई पड़ती थी और न पत्र लिखती थी। जब कई दिन और बीते तब मैंने समझा कि निर्म्मला मुझसे नाराज़ हो गई है। अब मुझे इस बात पर खेद होने लगा कि मैंने ऐसा कड़ा पत्र उसे क्यों लिखा। इस धारणा को कि निर्म्मला मुझे चाहती है, इसकी मधुरता के कारण मैं छोड़ नहीं सकता था। इस दशा में मैंने यही निर्णय किया कि सच होने पर भी मुझे ऐसी बातें न लिखनी चाहिए थीं जो उसे कष्टप्रद हों। पहले जितनी ही प्रबल मेरी इच्छा थी कि निर्म्मला मेरे शब्दों से आहत हो उतनी ही विकलता के साथ अब मैं ईश्वर से प्रार्थना करता था कि उसके सामने

जाकर वे शब्द अपने विषैले प्रभाव से वञ्चित हो जायँ। परन्तु जो तीर हाथ से छूट कर निशाने की ओर चला गया वह अपना काम किस तरह रोक सकता है ?

मैं कह आया हूँ कि इन दिनों श्याम के पढ़ने के समय भी पाण्डेय-जी ने बरामदे में बैठना शुरू किया था। संयोग-वश एक दिन वे वहाँ उस समय न पहुँच सके। मैंने ज्यों आँख ऊपर उठाई त्यों देखा कि सामने निर्म्मला झिलमिली के पास खड़ी है। श्याम के पढ़ने तक वह ज्यों की त्यों खड़ी रह गई। आप से आप आँख पड़ जाय तो भले ही पड़ जाय, किन्तु, मुझको यह साहस कभी नहीं होता था कि मैं निर्म्मला की ओर देखूँ। हाँ, आज मैंने थोड़ी सी हिम्मत की, उसके मुखारविन्द की ओर कभी कभी मेरी दृष्टि स्थिर हो जाती थी। यह हिम्मत भी विशेष कर इस कारण थी कि देखूँ मेरे पत्ररूपी खड्ग द्वारा किये गये इसके हृदय पर के घावों का प्रतिबिम्ब कहीं इसके चेहरे पर दिखाई देता है। मैंने कई बार धृष्टता की—और यह जान कर की कि आज मैं वही अपराध स्वयं कर रहा हूँ जिसके लिए मैंने निर्म्मला को दोषी ठहराया है—किन्तु उस प्रफुल्ल मुख-कमल में न कहीं विषाद की छाया थी, न रोष की रेखा। मुझको बारम्बार निहारते हुए देख कर निर्म्मला मुसकराती हुई चली गई, मानो यह कहती गई कि देखने की धृष्टता तो तुम भी करते हो।

दूसरे दिन पाण्डेयजी अपनी अनुपस्थिति की भी कसर निकालने के लिए मेरे पढ़ाने आने के पहिले ही से बरामदे में आ डटे। प्रतीक्षा

ही प्रतीक्षा में वह दिन भी निकल गया। अब वे मन ही मन शङ्का करने लगे कि हो न हो दाल में कुछ काला अवश्य है। सब उपायों से हार कर एक दिन वे हिन्दी की एक बड़ी ही चटक-मटकवाली किताब ले आये। इतने दिनों में उन्होंने श्याम को कुछ कुछ अपने क़ाबू में कर लिया था। उसे किताब देकर उन्होंने कहा—"अपनी दिदिया को यह पुस्तक दे आओ, कह देना पाण्डेयजी ने दिया है।" थोड़ी देर में श्याम ने लौट कर कहा—"दिदिया कहती हैं कि हमें किताब की ज़रूरत नहीं है, जाओ लौटा आओ।" इन शब्दों को सुन कर पाण्डेयजी ने अपने मन में कहा कि सोने की चिड़िया कुछ नख़रे किये बिना ही कलाई पर आकर बैठ जाय तो मज़ा ही क्या रहे, अच्छा कुछ दिनों और खिँची रहो, आख़िर कभी तो चारा चुँगोगी ही।

पाण्डेयजी का हृदय कहता था कि किसी झरोखे से, अथवा झिल-मिली के सूराख़ से निर्म्मला ने उन्हें देख लिया है और प्रति दिन वह देखती भी है, परन्तु उधर मैंने देखा कि जिस दिन पाण्डेयजी मौजूद रहते हैं उस दिन श्याम के पढ़ने के समय निर्म्मला नहीं आती और जिस दिन नहीं रहते उस दिन अवश्य आती है। मैं अपने मन को यह कह कर समझाता था कि निर्म्मला के नाराज़ न होने का सब से बड़ा सबूत यह है कि पुस्तकों का आना जाना बिल्कुल बन्द नहीं हुआ है। इस विचार ने मेरे हृदय में साहस का सञ्चार किया। यह कहा जा चुका है कि पत्रोत्तर न मिलने के कारण मैं बहुत व्याकुल और व्यग्र हो रहा था। साहस और विकलता के संयोग ने मेरे हृदय पर अविचार और उच्छृङ्खलता का राज्य

स्थापित कर दिया। मैंने एक कविता बड़े सुन्दर लेटर पेपर पर लिखी।

निर्म्मला का रूख देख कर मैंने निश्चय कर लिया कि अब पाण्डेयजी को शामिल नहीं करूँगा। मैंने इस पत्र को उन्हें बिना दिखाये ही श्याम के द्वारा उद्दिष्ट स्थान तक उन्हें पहुँचा दिया।

इसके कुछ ही समय बाद पाण्डेयजी को घर चला जाना पड़ा और इस प्रकार मेरी प्रेम-कथा का द्वितीय अध्याय समाप्त हो गया। अब अगले पत्र में मैं उन बातों को लिखूँगा जो मुझे जीवन भर न भूलेंगी, जिन्होंने मेरे हृदय पर गहरा से गहरा प्रभाव डाला है। हाँ, यह तो बताइए, मैं सच सच लिख रहा हूँ कि नहीं?

आपका स्नेही

राधावल्लभ

विदा

हे आसा अटक्यो रहै,

अलि गुलाब के मूल ।

ँ बहुरि बसन्त ऋतु,

इन डारिन वै फूल ।

—बिहारी

[पत्र ९]

प्रिय सरोज बाबू

आप ने बड़ी कृपा की जो मेरा पत्र वापिस करने के लिए समय तो निकाल लिया।

न जाने किस नशे में चूर हो होकर आप को ये लम्बे-लम्बे पत्र लिख रहा हूँ। मुझे तो किसी के पास एक कार्ड तक लिखना खल जाया करता है। निर्म्मला को ही, जीवन में सब से पहले, मैंने लम्बे-लम्बे पत्र लिखे थे। देख रहा हूँ कि आज आप के पास पत्र लिखते समय भी सिर पर जैसे कोई भूत चढ़ जाता है। सरोज बाबू! प्रेम का नशा भी कैसा निराला होता है!

अब श्याम के पढने के समय निर्म्मला फिर पहिले की तरह आने लगी। एक दिन उसने कई उपन्यास मेरे पढ़ने के लिये भेज दिये। इस अनुग्रह ने मेरे डगमग चित्त को कुछ सान्त्वना दी, मुझे विश्वास हो गया कि निर्म्मला रुष्ट नहीं है। निर्म्मला की कृपा को अधिकाधिक बढ़ती हुई देख कर मुझको नूतन बल प्राप्त हुआ। एक दिन मैंने चार पाँच पुस्तकें मँगाईं और उनके मँगाने के लिए जो चिट्ठी लिखी उसमें इतना और लिख दिया—

"कुछ दिन हुए, मैंने 'गाँधी प्रशस्ति' नामक पुस्तक भेजी थी, उसमें एक चिट्ठी थी, वह खोने न पावे।'

साधारण तौर से अभी तक चिट्ठियाँ लिफ़ाफे में बन्द कर के तथा किताबों में छिपाई जाकर भेजी जाती थीं, किन्तु यह चिट्ठी यों ही खुली हुई चली गई। मुझको विश्वास था कि यह चिट्ठी निर्म्मला ही को मिलेगी।

पुस्तकें मिल गईं, लेकिन चिट्ठी का जवाब न मिला। मैंने अपने हृदय से पूछा—"निर्म्मला चिट्ठी क्यों नहीं लिखती ?"

अप्रेल का महीना था, कालेज सात बजे से दस बजे तक लगता था। साढ़े छः बजे मैं अपनी कोठरी से निकल कर कालेज को जा रहा था। अभी मैं बँगले के हाते के बाहर नहीं गया था कि एकाएक निर्म्मला अपने झरोखे पर बैठी हुई दिखाई पड़ी। निर्म्मला के नेत्र मेरी ओर लगे हुए थे। मैं रास्ते से जा रहा था, इसलिए यदि खड़ा होकर उसको देखने लगता तो बड़ी भारी असभ्यता होने के साथ ही साथ ऐसा करना संकट-जनक भी था। उसकी मृदुल मूर्त्ति को अपने हृदय में रख कर मैं अपने अनमने पैरों को समाज के भय का चाबुक खिला-खिला कर आगे बढ़ाता ही गया। फिर यह देखने के लिए मैंने आँखें फेरीं कि कहीं निर्म्मला चली तो नहीं गई है। मैंने देखा कि वह ज्यों की त्यों मेरी ही ओर अपनी दृष्टि निश्चल और स्थिर किये बैठी है। पहली बार की अपेक्षा इस बार मैंने भी कुछ अधिक स्थिर होकर उसका रूप देखा। प्रातःकाल के स्नान के बाद सुन्दर साड़ी पहिने हुए वह शोभा की मूर्त्ति सी

दिखाई पड़ रही थी। लम्बे-लम्बे बाल खुले हुए थे और पीठ की ओर लटक रहे थे। केशों की एकाध पंक्तियाँ मुख के दोनों ओर आगईं थीं। उनमें जल की छोटी बूँदें भी विद्यमान थीं। उस समय मुझे उन भौरों की याद आगई जिनके साथ कमलिनी अपने पराग के रङ्ग से होली खेलती है। मैंने मन ही मन कहा, "इस समय कैसी मनोहर स्थिति है।" किन्तु फिर समाज-भय ने मुझे इस अनुपम दर्शन-सुख का उपभोग नहीं करने दिया। किसी तरह मन को मसोस कर मैं आगे बढ़ा। दो चार क़दम जाने के बाद मैंने फिर आँखें फेरीं, देखा तो निर्म्मला ज्यों की त्यों बैठी मेरी ही ओर निहार रही है। किन्तु अब अधिक देखने का अवसर नहीं था, धीरे-धीरे मैं बँगले के बाहर हो गया। कालेज का शेष मार्ग मैंने निर्म्मला की इस कृपा की मन ही मन आलोचना करने में काट दिया। पढ़ते समय भी कभी-कभी मेरा चित्त इसी ओर चला जाता था। कालेज में मेरी यह इच्छा बहुत प्रबल हो रही थी कि यदि एकान्त मिलता तो अब इस घटना की कल्पना का आनन्द लूटता। जैसे-तैसे कालेज के घण्टे बीत गये। निर्म्मला ही का ध्यान करता हुआ मैं बँगले तक आया। नहाने-खाने में डेढ़ दो घंटे व्यतीत हो गये। इसके बाद अपनी कोठरी के बाहर के बरामदे में मैं चारपाई पर पड़ रहा और कुछ ही देर में सो गया। एकाएक एक परिचित नौकरानी ने मुझे जगा कर मज़बूत तागे से बँधी हुई दो तीन पुस्तकें दीं। तत्पश्चात् यह कहती हुई वह चली गयी कि इन्हें निर्म्मला ने भेजा है। किताबें कोठरी में ले जाकर मैंने तागा तोड़ा और उलट पुलट

कर देखा तो मुझे एक लिफ़ाफ़ा मिला। उसे खोल कर मैंने उत्कण्ठा के साथ पढ़ना शुरू किया। यह पत्र क्या था, इसमें तो उसने अपना हृदय ही अर्पण कर दिया था। इस पत्र को आपके पास भेजने को जी तो नहीं चाहता, किन्तु अब आप से कुछ छिपाना नहीं है। कृपया इसे जल्दी लौटाइयेगा।

भवदीय
राधावल्लभ

[पत्र १०]

मान्यवर मास्टर साहब

आप की कई चिट्ठियाँ आयीं। मैं एक का भी उत्तर शीघ्र न दे सकी, इसके लिए मुझे क्षमा कीजिएगा। परन्तु, मैं करती तो क्या करती? जितना सरल आप के लिए इन पत्रों का लिखना था उतना ही सरल मेरा उत्तर देना नहीं था। पहले पत्र में आप ने मुझसे पूछा था कि मेरा यह रूप और यौवन, जो चार दिन की चाँदनी की तरह मिट जायगा, किसके काम आवेगा। इस प्रश्न का उत्तर मैं स्वयं नहीं दे सकती। इसका मुझे अधिकार नहीं है। परन्तु, आप विश्वास कीजिए कि यह लिखते हुए और सोचते हुए मेरा हृदय विदीर्ण हो रहा है कि आप की दासी बन कर सौभाग्यशालिनी कहलाने की मुझे कोई आशा दिखायी नहीं देती। आप मेरे उत्तर की रुखाई से बहुत असन्तुष्ट हुए होंगे, परन्तु, मैंने वैसा उत्तर आपको क्यों दिया, यह कहने की आवश्यकता नहीं। क्योंकि, आप स्वयं जानते हैं कि यद्यपि हम और आप ब्राह्मण हैं तथापि हमारी उपजाति भिन्न है। इसके

अतिरिक्त आपका विवाह हो चुका है, इस दशा में आपके हृदय में मेरे प्रति जो अनुराग उत्पन्न हुआ है उसे बाल्यावस्था में ही मिटा देना मेरा धर्म है, किन्तु ऐसा होते हुए भी उस पत्र को लिखने के पहिले और बाद को मुझे कितनी वेदना हुई थी इसे मैं ही जानती हूँ। उस दिन तीसरे पहर मैंने भोजन ग्रहण किया था, और आधी रात तक मैं यही सोचती रही थी कि हाय मेरे व्यवहार से आपको कितना रंज हुआ होगा, मैंने इतनी कड़ी चिट्ठी आप को क्यों लिखी। आशा है, आप मुझे क्षमा करेंगे।

दूसरे पत्र में आपने मुझ पर ही धृष्टता का अभियोग लगाया है। मैं स्वीकार करती हूँ कि परदे में रहने के कारण मुझे आपके सामने होना नहीं चाहिए। परन्तु मुझे यह मान लेने में कोई सङ्कोच नहीं है कि मैं आप को चाहती हूँ। मैं गत दो वर्षों से आपकी कविताओं से परिचित हूँ और जिन-जिन पत्रों में आपकी रचनाएँ प्रकाशित होती थीं उनके ख़ास-ख़ास अङ्कों को मैं बड़ी सावधानी के साथ रखती आयी हूँ। आपके प्रति मेरे हृदय में जो श्रद्धा पहले उत्पन्न हुई थी वही आप को देखने पर अनुराग-रूप में परिणत होगई है। मैं अपने को बहुत रोकती हूँ, अपने हृदय को बहुत समझाती हूँ कि आपको भूल जाना ही उचित है, परन्तु, आप की उपस्थिति मे मेरी मर्य्यादित विचार-श्रेणी का बाँध टूट जाता है और दुर्बलता की बाढ़ हो आती है। जिस तरह चकोर चन्द्रमा को देखने के लिए अधीर रहता है उसी तरह आप को देखने के लिए मैं अधीर रहती हूँ। अधिक क्या लिखूँ।

आपका तीसरा पत्र ऐसे समय में लिखा गया जान पड़ता है जब

आप का चित्त ठिकाने नहीं था, मैं अपना मन आप को अर्पण कर चुकी हूँ, परन्तु शरीर अर्पण करने का अधिकार मुझे नहीं है वह मेरे पिता-माता की सम्पत्ति है, वे जिसे चाहेंगे देंगे। यहाँ मैं इस ओर संकेत नहीं कर रही हूँ कि अपना हृदय मैं चाहे जिसे अर्पित कर सकती हूँ—नहीं। पिताजी से जो कुछ शास्त्रीय शिक्षा मुझे मिली है उससे मैं यही समझती हूँ कि किसी न किसी तरह मुझे आपको भूल जाना ही होगा। यदि मैं ऐसा न कर सकूँगी तो यह मेरा दुर्भाग्य होगा, मेरी दुर्बलता होगी।

अन्त मे आपसे यही निवेदन करूँगी कि मुझे भूल जाने का आप प्रयत्न करें और मैं भी आपको भुलाने की चेष्टा करूँ।

आप की

निर्म्मला

[पत्र ११]

प्रिय सरोज बाबू

मुझे तो यह आशा न थी कि मेरी प्रार्थना स्वीकार करने मे आप इतनी तत्परता दिखाएँगे, मेरे पत्र को इतना शीघ्र लौटा देंगे। इस पत्र को पढ़ कर हिन्दू-समाज के प्रति मुझे जितनी घृणा हुई और उसे मैंने जितना कोसा, यह आप को मेरे उस उत्तर से ज्ञात हो सकता है जो मैंने निर्म्मला को दिया—

तुम्हारा पत्र और तुम्हारी भेजी हुई पुस्तकें मिलीं। क्या मेरा और तुम्हारा मिलन इतना कठिन है कि बिना मुझे भुलाये तुम्हारा कल्याण नहीं और बिना तुम्हें भुलाये मेरा कल्याण नहीं? मेरा विचार है कि आधुनिक युग में युवकों और युवतियों को अपने पिता-माता का गुलाम न

बनना चाहिए। जब जीवन के सभी क्षेत्रों मे गुलामी की प्रथा निर्मूल की जा रही है तब घर की चहारदीवारी के भीतर ही क्यों हो? योरप और अमरीका को देखो, वहाँ के युवक और युवतियाँ अपने पिता-माता को विवाह करने की सूचना मात्र देती हैं और सब कुछ स्वयं तय करती हैं, इस तरह समूचे बाग़ के जिस फूल को वे सब से अधिक पसन्द करती हैं उसी को ग्रहण करती हैं। ऐसा होने से अयोग्य पति और अयोग्य पत्नी का कोई प्रश्न ही नहीं खड़ा होता। इसके विपरीत हम हिन्दुओं की दशा बड़ी विचित्र है। अब उदाहरण देने दूर कहाँ जाऊँ, अपनी ही बात क्यों न कहूँ। मैं १५ वर्ष का था तब मेरा विवाह हुआ। न कन्या ने मेरा कोई परिचय प्राप्त किया था और न मैंने उसका। कन्या बहुत छोटी थी, इसलिये विवाह और गौने में सात वर्ष का अन्तर पड़ गया। अब गौना आया है तो घर पर दिन में स्त्री का मुँह देखना पाप है, नालायक़ होने का सबूत है। इस दशा में जब कि पत्नी और पति का मिलन केवल सन्तानोत्पत्ति के लिए होने दिया जाता है, दोनों में सहानुभूति का सञ्चार किस तरह किया जा सकता है? अब थोड़ी देर के लिए मान लो कि स्त्री कानी है अथवा अन्धी है, तो पति को विवाह के समय इस बात का पता कैसे चल सकता है? यदि स्त्री व्यभिचारिणी, कलह-कुशला और कर्कशा है तो यह जानकारी किस तरह प्राप्त की जा सकती है? जिस तरह गाय और बैल कुछ दिन एक के यहाँ रह कर फिर दूसरे के यहाँ कर दिए जाते हैं उसी तरह हम लोगों में लड़कियों को माता-पिता चाहे जिस पुरुष के गले मढ़ कर सदा के लिए छुट्टी ले लेते हैं और लड़कों की तो पूछो मत,

वे तो बेचारे नीलाम किये जाते हैं और सब से अधिक दाम देनेवाला उन्हें पाता है। इस तरह एक ओर तो लड़कियों के माता-पिता उन्हे अयोग्य पतियों के हाथ में देकर छुट्टी ले लेते हैं दूसरी ओर लड़कों के माँ-बाप उन्हें चाँदी के पलड़े में तौल कर बेचते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि माता-पिता के हाथ में पड़ कर लड़कों और लड़कियों का सुख-मय जगत् नष्ट हो रहा है। फिर माता-पिता की थोड़ी करतूत और न देखो, वे लड़के की वधू का कितना सत्कार करते हैं। मेरा तो ख़याल है कि हिन्दुस्तान के एक छोर से लेकर दूसरे छोर तक यदि इस विषय पर सम्मतियाँ माँगी जायँ कि माता-पिताओं ने अपना शासन योग्यता से किया है या नहीं तो ७५ प्रति सैकड़ा राय यही मिलेगी कि इन्होंने अत्यन्त अत्याचारशीलता के साथ लड़कों और लड़कियों अथवा पुत्र-वधुओं को कष्ट दिया है और अब इनके आधिपत्य की अवधि समाप्त कर दी जाय। इस दशा में क्या तुम्हारा और मेरा यह कर्त्तव्य नहीं है कि विवाह-प्रश्न को माता-पिता के हाथ में न छोड़ कर हम लोग स्वयं उसे हल करें और अन्य लोगों के सामने स्वतन्त्रता का एक उदाहरण रक्खें।

× × ×

पं० शारदानाथ के तीन ही सन्तानें थीं। दो लड़के और एक लड़की निर्म्मला। वे निर्म्मला को बहुत चाहते थे। इसीलिए उसे उन्होंने स्वयं महाभारत, वाल्मीकि रामायण, श्रीभगवद्गीता, मनुस्मृति, तुलसीकृत रामायण तथा अनेक महात्माओं की रचनाओं और उपदेशों का पाठ कराया था। निर्म्मला को काम चलाऊ अँग्रेज़ी भी पढ़ाई गई थी, किन्तु

वह तब, जब उसे मातृ-भाषा हिन्दी का पूरा बोध और संस्कृत का साधारणतया अच्छा ज्ञान हो गया था। निर्म्मला की स्वाभाविक रुचि तात्विक ज्ञान की ओर विशेष रहती थी। यह देख कर शारदा बाबू ने दर्शन-शास्त्र के ग्रन्थों से भी उसका परिचय कराया। हिन्दी के पत्रों में मेरी कविताएँ छपती देख कर निर्म्मला ने कविता करने का प्रयास भी किया था, किन्तु वह उससे न हो सका था। इधर कई दिनों से वह एक कवित्त बनाने में फिर लगी थी। धीरे-धीरे तीन चरण बन चुके थे, चौथे चरण के लिए आज दो तीन घंटे से दिमाग़ खपा रही थी। जैसे-तैसे चौथा भी पूरा हुआ। इस समय उसे जैसा आनन्द हुआ वैसा शायद ही कभी हुआ हो। उसने सोचा, एक कवित्त बन गया, अब मैं अपने को कवि कह सकूँगी। उसने बड़े चाव से गुन गुना कर पढ़ा—

"चाहती सरोजिनी ज्यों किरणें प्रभाकर की,
चाहती चकोर बालिका ज्यों चारु चन्द को।
मोरनी ज्यों चाहती है मंजु मेघमाला मूर्त्ति,
भृङ्गी चाहती है ज्यों सरोज के मरन्द को॥
चातकी ज्यों चाहती है स्वाती वारि बूँद पान,
मीन चाहती है ज्यों सरोवर स्वच्छन्द को—
त्यों ही चाहती हूँ मैं सदा ही प्राणवल्लभ हे,
आनन्द के कन्द तव आनन अमन्द को॥"

इस कवित्त को उसने बारम्बार पढ़ा। आज उसके आनन्द की थाह नहीं थी। उस समय बरामदे में कोई नहीं था, झिलमिली के पास

खड़े होकर मैंने भी चोर की नाईं निर्म्मला की इस अपूर्व स्थिति के सौन्दर्य्य और उसकी मृदु कण्ठ-ध्वनि का मधुपान कर लिया।

दूसरे दिन मुझे निम्नलिखित पत्र मिला—

मान्यवर मास्टर साहब

हम लोग अपनी मर्य्यादा और सीमा के कुछ बाहर चले जा रहे हैं। हमें अपने ऊपर नियन्त्रण करना आवश्यक है। पत्र-व्यवहार में बहुत सावधानी करनी होगी। मुझे भय है, कहीं ऐसा न हो कि कोई हमारे पत्रों को देख ले और हमारी बदनामी फैले। मै आपसे हाथ जोड़ कर प्रार्थना करती हूँ कि जो बात असम्भव है उसके लिए यत्नशील बन कर अपनी कठिनाइयों को मत बढ़ाइये। यदि मेरा विवाह आपके साथ हो सकता तो निस्सन्देह मैं प्रसन्न होती, किन्तु मैं इतनी भाग्यवान नहीं हूँ। मैं जितना ही इस प्रश्न पर विचार करती हूँ उतनी ही दृढ़ मेरी यह धारणा हो जाती है कि मेरा और आप का प्रेम कितना भी शुद्ध और सच्चा क्यों न हो, हमारा कल्याण इसी में है कि हम एक दूसरे को भूल जाये। यही समझ लीजिये कि मेरे साथ आप का विवाह हो गया था। आपने अपनी स्त्री के साथ पत्र-व्यवहार कर लिया था, उसे देख लिया था, किन्तु गौना आने के पहले ही वह मर गई। मैं ईश्वर से नित्य प्रार्थना करती हूँ कि इसी वर्ष आप के लड़का हो, क्या उस नवजात शिशु का मुख देख कर आप मुझ अभागिनी को न भूल जायँगे? अब मुझे यह सोच कर दुःख होता है कि मैंने आपसे प्रेम क्यों किया, किन्तु अब तो जो होना था सो हो गया। अब उसके लिये मुझे कुछ पछतावा भी नहीं है।

रंज इसी बात का है कि आठ-दस दिनों के बाद हम लोग यहाँ से सदा के लिए चले जायँगे और तब मैं आप को कैसे और कब देख सकूँगी, यह नहीं कहा जा सकता। अस्तु। परसों मैं पिताजी के साथ वृन्दावन जाऊँगी। वहाँ कृष्णजी से प्रार्थना करूँगी कि वे आप के हृदय को उसी प्रेरणा से प्रेरित करें जिससे प्रेरित होकर वे राधा तथा अन्य गोपियों को बिल्कुल भुला बैठे थे, और राधा देवी से यह प्रार्थना करूँगी कि जिस प्रकार कृष्ण के वियोग मे उन्होंने अपने को सँभाला उसी प्रकार आप के वियोग मे मैं स्वयं को सँभाल सकूँ।

मैं एक धर्म्म-भीरु बाला हूँ। बचपन ही से माता-पिता का कहना मानना मुझे सिखलाया गया है। यदि वे मेरे साथ कोई अन्याय करें तो भी उनका विरोध करना मेरे स्वभाव के विपरीत है, फिर जब वे मेरा इतना प्यार करते हैं, मेरे मुख पर तनिक सी उदासी देख कर घबरा जाते हैं, मुझे प्रसन्न रखने के लिए तरह-तरह के उपाय किया करते हैं तब मैं उनके हृदय को कैसे दुखा सकती हूँ।

अच्छा, तो क्या यदि मैं अपने माता-पिता की अप्रसन्नता की कोई परवा न करके आपके साथ स्वच्छन्दता पूर्वक हो लूँ तो सारी समस्या हल हो जायगी? आप विवाहित हैं। मेरे पहुँचने पर क्या आप का घर अशान्ति का अड्डा न हो जायगा? आपकी स्त्री के अमूल्य रत्न को छीन कर जब मै रानी बनूँगी और वह भिखारिन होकर मुझे उठते-बैठते कोसेगी तब क्या आप समझते हैं कि मैं सुख की नींद सो सकूँगी? और, जब न मैं सुखी रहूँगी और न कमला तब आप ही के जीवन मे

कौन सा सुख रह जायगा ? पिता के मुख में कालिख लगेगा, माता अपनी कोख को कोसेगी, समाज के लोग हमारी ओर उँगली उठाया करेंगे—यह सब अलग है। क्या इतने अनिष्टों की जननी बनने के लिए ही मैने जन्म ग्रहण किया है ?

मै आपसे बारम्बार यही निवेदन करूँगी कि आप मेरी चिन्ता न करें। मैने तो अभागिनी होकर जन्म ही लिया है। यदि मेरे भाग्य में सुख पाना बदा होता तो हम लोग जाति से बाहर क्यों कर दिये गये होते। पिताजी की मैं ही एक मात्र कन्या हूँ, जिस समय उन्होंने शास्त्र-वर्जित समुद्र-यात्रा के लिए पैर रक्खा उस समय उन्हें यह थोड़े ही ध्यान में आया होगा कि जिस लड़की का उन्होंने इतना लाड़ प्यार किया, इससे उसी का भविष्य नष्ट होगा। मेरे कुटुम्ब में सभी उच्च शिक्षा प्राप्त हैं, कोई आई० सी० एस० है, कोई कौन्सिल का मेम्बर है और कोई हाईकोर्ट का वकील। और फिर भी मेरा विवाह होने जा रहा है एक अशिक्षित आदमी के साथ। मेरे पिताजी न व्यवहार-कुशल पुरुष हैं और न अपने सभी सिद्धान्तों को कार्य रूप में परिणत करते हैं। पहिली त्रुटि का कारण यह है कि वे कोरे दर्शन शास्त्री हैं, मनुष्यों के साथ अधिक सम्पर्क न होने के कारण उन्हें यह अनुभव नहीं है कि किसका कितना आदर करना चाहिए। उन्हें सदा अपने ऊँचे ओहदे और शान का ध्यान रहता है। इसका फल यह हुआ है कि जहाँ जातिवालों की ओर से कुछ सहानुभूति की आशा थी वहाँ भी अब उनके प्रति पिताजी की उपेक्षा के कारण अब पूर्ण निराशा हो गई।

दूसरी त्रुटि का कारण यह है कि अनेक बातों में तो वे उदार हो गये हैं, लेकिन अनेक बातों में अपनी जाति के अन्य लोगों की अपेक्षा कम संकीर्ण नहीं है। मेरा अपना विचार यह है कि जब वे समुद्र-यात्रा कर आये और ऐसा करने को समाज-सुधार के पथ पर एक कदम आगे बढ़ाना समझते हैं तब मेरे विवाह के सम्बन्ध में इतनी उदारता भी क्यों नहीं दिखाते कि सम्पूर्ण ब्राह्मण जाति में वर खोजें। परन्तु, मेरे दुर्भाग्य से इस सम्बन्ध में उनकी यह कमज़ोरी बनी हुई है कि वर हो तो सारस्वत-ब्राह्मण ही हो। मैं उनकी इस दुर्बलता के सम्बन्ध में टीका-टिप्पणी करने का कोई अधिकार नहीं रखती। क्योंकि, जहाँ उनकी बुद्धिमानी के कारण मैं अनेक सुख भोगती हूँ, वहाँ उनकी अदूरदर्शिता से उत्पन्न होने-वाले दुःखों को भी मुझे अङ्गीकार करना चाहिए। शास्त्र के अनुसार भी मुझे तब तक कुछ भी बोलने का अधिकार नहीं है, जब तक मेरे विवाह के लिये वे प्रयत्नशील हैं, दौड़-धूप कर रहे हैं, और इतने खरे निर्भीक तथा स्पष्टवादी होकर भी इतनी उपेक्षा और इतना अपमान सहन करते हैं।

मैं जानती हूँ कि आप मेरे इस दृष्टिकोण से सहमत न होंगे। आप तो यही पसन्द करेंगे कि माता-पिता के हाथ में से विवाह-सम्बन्धी समस्त अधिकार युवक और युवती गण छीन लें। पाश्चात्य देशों में यह हो रहा है, वहीं की रीति रवाजों के अध्ययन से आप भी स्वच्छन्दता के उपासक हो रहे हैं। आप ही नहीं आप के ढंग के और बहुत से लोग हिन्दुओं की वर्तमान विवाह-पद्धति में, जिसके अनुसार एक दूसरे से

बारह बज गये हैं। नींद आ रही है। अब लेखनी को यहीं विश्राम देता हूँ।

भवदीय

राधावल्लभ

[पत्र १२]

प्रिय सरोज बाबू

वृन्दावन अपूर्व स्थान है। वहाँ की बोली, वहाँ के मन्दिर, वहाँ के नर-नारी अब भी भगवान कृष्ण की याद दिलाते हैं। आगरा, मथुरा, गोकुल, बरसाना, गोवर्द्धन आदि की सैर करने में पण्डितजी ने कई दिन लगा दिये। इस यात्रा में ये निर्म्मला का मनोरञ्जन करने की बहुत चेष्टा किया करते थे, लेकिन बनावटी हँसी हँसने पर भी वह उदास ही बनी रहती थी।

बनारस जाने को केवल दो दिन रह जाने पर पंडितजी आगरे लौटे। निर्म्मला को देख कर मुझको सुख तो हुआ, परन्तु अपने भविष्य जीवन के आकाश में विरह-कष्ट की काली घटा को घहर घहर कर घिरती हुई देख कर मेरा हृदय सहम भी उठा।

यहाँ आप यह पूछ सकते हैं कि क्या मैं कभी भी काशी नहीं जा सकता था। यदि जा सकता था तो विरह की ऐसी भयानक कल्पना मैं क्यों कर रहा था? बात यह थी कि काशी में पण्डित शारदानाथ का सम्पूर्ण परिवार निवास करता है और वहाँ जाने पर निर्म्मला उतनी स्वतन्त्रता नहीं ग्रहण कर सकती थी जितनी उसने आगरे में की थी।

मुझे यह अच्छी तरह मालूम था कि वहाँ उच्चता के जिस वायु-मंडल में वह रक्खी जायगी उसमें मेरा प्रवेश असम्भव हो जायगा और इसी कारण मेरा हृदय अभी से भयभीत हो रहा था। दूसरे दिन निर्म्मला ने मेरे पास एक पत्र लिखा—

मान्यवर मास्टर साहब

अब मैं परसों यहाँ से सदा के लिए चली जाऊँगी, फिर आप को कभी देख सकूँगी, या नहीं इसे तो ईश्वर ही जाने। अन्य स्थानों से जब पिताजी की बदली होती थी तब मैं बहुत आनन्दित हुआ करती थी, किन्तु यहाँ से जाते हुए मुझे प्राणान्तक कष्ट हो रहा है। इसके कारण आप हैं।

आप से एक निवेदन करना है। श्याम को पहुँचाने के बहाने आप को स्टेशन तक चलना होगा।

निर्म्मला

मुझे बरामदे में टहलते हुए देख कर निर्म्मला ने झिलमिली की राह से यह पत्र बाहर गिरा दिया था। उस समय वहाँ और कोई नहीं था। मैं ने पत्र पढ़ कर जेब में रख लिया।

मैं एक पत्र पहले ही लिख चुका था, किन्तु अब उसे फाड़कर संध्या के समय अपने कमरे में बैठ कर दूसरा लिखने लगा। पत्र को समाप्त करके रात के अँधेरे में मैंने निर्म्मला की खिड़की में डाल दिया। उस समय अम्मा को अपनी तबियत ख़राब बता कर और किवाड़ बन्द कर निर्म्मला चारपाई पर लेटी हुई थी। पत्र लेने के लिए वह उठी

और खोल कर पढ़ने लगी। मैंने जो कुछ लिखा था उसकी नक़ल नीचे देता हूँ।

प्रिय निर्म्मला

तुम्हारा पत्र मिला। अन्त मे हमारे अलग होने का समय आ ही गया। यह कोई नई बात नहीं है। संयोग और वियोग तो प्रति दिन की घटना है। सवेरा होने पर सूर्य्य को देख कर कमलिनी खिल जाती है, फिर रात को उसे कुम्हला जाना पड़ता है। किन्तु मुझे पूरी आशा है कि यदि तुम चाहोगी तो यह विरह चिरस्थायी नहीं होगा। वृन्दाबन जाने के पहले तुमने जो पत्र लिखा था उसे मैंने ध्यान से पढ़ा है। तुम्हारा कहना है कि हिन्दू-विवाह-पद्धति के सम्बन्ध में विचार करते समय हमें यह न भूलना चाहिए कि हमारे राजनैतिक और आर्थिक अधःपतन के कारण ही वह भी अकल्याणकारिणी हो रही है। मैं यह तो मानने को तैयार हूँ कि किसी समय हिन्दू-विवाह-पद्धति बहुत ही उच्च आदर्श पर अवल-म्बित थी और निस्सन्देह मनुष्य की आध्यात्मिक उन्नति में सहायता देती थी किन्तु यह तो तुम्हें भी स्वीकार करना पड़ेगा कि अब वह समय नहीं है। देश का राजनैतिक और आर्थिक अधःपतन हो गया है, जिसका फल यह हो रहा है कि हमे अपनी प्राचीन प्रथाओं में थोड़ा बहुत परिवर्त्तन करना पड़ रहा है। यहाँ मैं इतना अवश्य कहूँगा कि परिवर्त्तन बुरी चीज़ नहीं है और न कोई भी पुरानी प्रथा सब काल के लिए इतनी अच्छी हो सकती है कि चाहे हमारा दम घुँट जाय लेकिन उसके प्रति अपने प्यार को हम न छोड़ें। जब हम स्वतन्त्र थे, हमारा

समाज सुखी था तब कन्याओं का विक्रय नहीं हो सकता था और न लड़के नीलाम किये जाते थे किन्तु आज जब कि सारी परिस्थिति बदल गई है तब हम क्या करें ? उदाहरण के लिए, किसी समय रामदीन का मकान बहुत मज़बूत था और वह अपने परिवार सहित उसमें आनन्द के साथ रहता था। उस समय उसे दूसरे मकान में जाने की ज़रूरत नहीं थी। किन्तु दुर्भाग्य से अब उसका घर कमज़ोर हो गया है और अब उसके गिर पड़ने का डर है, साथ ही मरम्मत में भी देर है, इस दशा मे क्या उसे दूसरे मकान में न जाना चाहिए ? मेरा तो पक्का विचार है कि युवकों और युवतियों को अपने विवाह का प्रश्न अपने हाथ में लेना चाहिए। पिछले पत्रों में मैंने जो उच्छृङ्खलता दिखाई है उसके लिए मुझे क्षमा करना।

तुम्हारी आज्ञा के अनुसार मैं स्टेशन तक चलूँगा।

राधावल्लभ

स्टेशन तक चलने का वादा तो मैंने कर दिया लेकिन जब चलने का समय आ गया तब मैं सोचने लगा कि मैं कैसे जाऊँ। संकोच और लज्जा ने मेरे पैरों के चारों ओर जादू की लकड़ी सी फेर दी। स्टेशन जाने के एक घण्टे पहिले ही निर्म्मला ने मुझ को अपनी मधुर मूर्त्ति दिखा दी थी और मौन तथा भावभरे नेत्रों द्वारा मानों अपनी आज्ञा की फिर से याद दिला दी थी। मेरी आँखों के सामने ही निर्म्मला अपनी माता आदि के साथ गाड़ी में बैठी। जब तक गाड़ी आँखों से ओझल नहीं हो गई तब तक मैं निर्म्मला की ओर देखता रहा और निर्म्मला

मेरी ओर निहारती रही। आठ दस मिनटों के बीतते बीतते यह दृश्य सदा के लिए अतीतकाल की गोद में सो गया।

हृदय पर पत्थर रख कर मैं बरामदे में भूमि पर ही बैठ गया। मैं सोचने लगा स्त्रियाँ कितनी व्यवहार-चातुरी शून्य होती हैं। यदि मैं इस समय स्टेशन पर जाता तो क्या पंडितजी मेरे ऊपर संदेह न करते। और फिर भी निर्म्मला ने आदेश दे रक्खा था कि स्टेशन तक अवश्य ही चलना। मेरे हृदय में कोई कह रहा था कि निर्म्मला की आज्ञा का पालन न करके तुमने घोर अपराध किया है। बड़ी देर तक भाँति-भाँति के तर्क-वितर्क द्वारा मै उसका समाधान करता रहा। फिर अन्त मे यह सोच कर कि अब तो बनारस की गाड़ी छूट रही होगी, मैंने इस विचार-श्रेणी का अन्त किया। किन्तु जब कि घाव बिल्कुल ही ताज़े हों तब किसी को किस तरह शान्ति मिल सकती है? बँगले के सभी कमरे अभी खुले हुए थे। मै भीतर एक-एक कमरे में गया, उसमें भी गया जिसमें निर्म्मला रहा करती थी। मैंने वह जगह देखी जहाँ निर्म्मला खड़ी होकर मुझे देखा करती थी। जब वेदना का अधिक बोझा सम्हालना मेरे हृदय के लिए कठिन हो गया तब मैं बाहर निकल आया।

मै विकल और विक्षिप्त सा हो गया।

दो ही दिनों के बाद परीक्षा शुरू होनेवाली थी। बहुत सी पुस्तकों में अभी मैं बिलकुल कोरा ही था, किन्तु पढ़ता तो कैसे पढ़ता? निर्म्मला तो चित्त से उतरती ही नहीं थी। मुझे ऐसा अनुभव होता था मानो मैं जहाँ जाता हूँ निर्म्मला की छाया मेरे साथ-साथ है। जब मैं पुस्तक के

पन्नों को उलटने के लिए बैठता था तब वहाँ भी निर्म्मला की मूर्त्ति मुझे दिखलाई पड़ती थी। दो दिन बीतने में देर ही कितनी लगती है। परीक्षा शुरू हो गई, उत्तर-पत्र के पृष्ठों पर भी निर्म्मला की मधुर मूर्ति दिखाई देती थी। मैं हैरान हो गया। जैसे-तैसे परीक्षा समाप्त हुई। प्रथम वर्ष से किसी तरह द्वितीय वर्ष में तरक्की मिली। मैं घर को रवाना हो गया।

सरोज बाबू! यहाँ तक का हाल मैंने आपको बता दिया। यह अक्षरशः सत्य है या नहीं, यह तो केवल मैं जानता हूँ और जानती है निर्म्मला। अब रहा आगे का हाल, सो उसकी चर्चा करना व्यर्थ है। उसका वर्णन करके आपको मैं दुखी नहीं करना चाहता। इतना ही कहूँगा कि वे मूर्ख हैं जो प्रेम कर के यह समझते हैं कि उनके इस कार्य्य को कोई जानेगा नहीं, वह सदा ही छिपा रहेगा। निर्म्मला ने अपने अन्ध अनुराग में शायद यह नहीं समझा कि उसको अपने प्रेम-पात्र की चर्चा करने में सावधान रहने की आवश्यकता है। और अपनी इस ग़लती के लिए उसने अपने और मेरे लिए जीवन पर्य्यन्त विरह की अग्नि में जलते रहने, एक दूसरे को कभी न देख सकने, पत्र भेज सकने की कौन कहे, एक दूसरे का नाम तक न ले सकने की स्थिति उत्पन्न कर ली। आह! कोयल को वसन्त में गाने की इच्छा हो और कोई उसकी चोंचों को ऐसा बाँध दे कि उसके मुख से एक शब्द भी न निकल सके। परिस्थिति की इस निष्करुणता की भी कोई हद है! मैं जिस स्थान पर हूँ वहाँ मेरा क्या मूल्य है! मुझे लोग एक साधारण जीवधारी, अधिक से अधिक एक साधारण आदर का पात्र मनुष्य ही तो

समझते हैं, किन्तु जिस एक व्यक्ति की दृष्टि में मैं सर्वथा अगोचर हूँ उसे मेरे अस्तित्व तक का अनुभव करने का कोई अधिकार नहीं। यह कैसी विवशता है, कैसी विडम्बना है! मेरी समझ में नहीं आता कि इस अपार वेदना का भार मैं कैसे सहन करूँ, अपने चंचल हृदय को कैसे समझाऊँ? किसी प्रकार धीरज नहीं धरा जाता।

राधावल्लभ

[पत्र १३]

प्रिय राधावल्लभ जी

आपकी प्रेम-कथा का वर्णन पढ़ कर के आप के लिए, और निर्म्मला के लिए तो अत्यन्त अधिक मात्रा में मेरी सहानुभूति का स्रोत उमड़ रहा है। निर्म्मला ने आपको जो प्रेम-रत्न भेंट किया है, वह निस्सन्देह एक थाती के समान है और आपका कर्त्तव्य यह है कि इस थाती की रक्षा करने में, उसको पवित्र और सुन्दर रूप में बनाये रखने के लिए, आप समुचित साधना करें। आप कवि हैं, आप स्वयं सुकुमार सौन्दर्य्य के पारखी हैं। अतएव, मुझे आपको यह बताना न पड़ेगा कि प्रणय का सर्वोत्कृष्ट और सर्व्व-सुन्दर स्वरूप चिर विरह है। सच बात यह है कि जिसे अपने हृदय को शुद्ध करना हो वह सच्ची लगन की आग जला कर विरह की ज्वाला में उसे तपावे। आपकी वर्त्तमान वेदना के लिए मेरे हृदय में कष्ट है, किन्तु, यह सोच कर आनन्द है कि यह वेदना नहीं, बल्कि अमूल्य धन आपको प्राप्त हुआ है और इसके लिए आप को बधाई दिये बिना रहा नहीं जाता। कृपा कर के हृदय को कड़ा कीजिए, ईश्वर

का नाम लीजिए और यह विश्वास रखिए कि वह जो कुछ करता है सब अच्छे ही के लिए करता है।

रही आपकी उत्कण्ठा को शमन करने की बात, सो उसे भी बता देता हूँ। पता नहीं, आपको मालूम या नहीं कि मेरी बहिन विनोदिनी और निर्म्मला दोनों सखियाँ हैं। संयोग से मैंने विनोदिनी के पास आये हुए कई पत्र एक दिन उसकी मेज़ की दराज़ में देख लिये। यह बात विनोदिनी को भी नहीं मालूम है। एक दिन उससे विधिपूर्वक क्षमा-प्रार्थना करने का विचार कर रहा हूँ। हाँ, आप के पास निर्म्मला के दो पत्रों की नक़ल भेजे देता हूँ जो उसने आरम्भ में विनो-दिनी के पास लिखे थे। शेष पत्रों में तो वही कथा है जो स्वयं आपने लिखी है, अतएव वे आप के लिए व्यर्थ हैं।

सरोजकुमार

[पत्र १४]

काशी

प्रिय बहिन विनोदिनी

नमस्कार।

तुम्हारा प्रिय पत्र मिला। सच मानो, शिष्टाचार के लिए उसे प्रिय नहीं लिख रही हूँ। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि उसने मेरे हृदय के एक एक भाग को गुदगुदा दिया है, निगूढ़ से निगूढ़ स्थल में पीड़ा की एक लहर सी चला दी है और यद्यपि आजकल मैं स्वयं को दुःखिनी समझती हूँ और जिन स्मृतियों को तुम्हारे पत्र ने जागरित कर दिया है उन्हे प्रत्येक

समझदार मनुष्य दुःखदायिनी ही बतलावेगा, फिर भी न जाने क्यों मुझे यह ठेस, यह दुःख अपूर्व आनन्द ही प्रदान करता है। इन स्मृतियों के संजीवित वा उद्दीप्त हो जाने पर मुझे ऐसा जान पड़ने लगता है जैसे मेरी खोयी हुई निधि सी मिल गयी और तब मैं अपने दुर्भाग्य में भी परम सौभाग्य का अनुभव करती हुई बड़े-बड़े भाग्यवानों को अपने से तुच्छ समझने लगती हूँ। इसी से तो कहती हूँ, सखी विनोदिनी! तुम्हारा प्रिय, परम प्रिय, नहीं नहीं, प्राणप्रिय पत्र मिला। ऐसी अमूल्य वस्तु के लिए धन्यवाद देने को जी चाहता है, परन्तु, तुम तो मेरी बाल-संगिनी हो, तुमने मैंने एक ही थाल में रोटी-दाल खायी है, फिर तुम्हें कैसे धन्यवाद देने का साहस करूँ ?

प्यारी विनोदिनी! तुमने मुझसे जो प्रश्न किया है उसका उत्तर देना मेरे लिए आज उतना सरल नहीं है जितना कुछ दिनों पहले था। आज अपनी व्यथा को भाषा के रूप में परिणत करके तुम्हारे पास पहुँचाने को जी नहीं चाहता। आज तो बस यही इच्छा होती है कि अपनी वेदना का हाल किसी से न कहूँ, कहीं एकान्त में बैठ कर चुपचाप आहें भरूँ, आँसू गिराऊँ और तब तक सिसक सिसक कर रोऊँ जब तक रोने की शक्ति मुझ में विद्यमान रहे। परन्तु, तुम मेरी सहेली हो और तुमने अत्यन्त आग्रहपूर्वक मेरे हृदय का हाल पूछा है, ऐसी दशा में तुम्हारे साथ टाल-मटोल का व्यवहार करना मेरे लिए सर्व्वथा असम्भव है।

प्यारी बहिन! व्याध के बाण से आहत किसी मृगी को क्या तुमने कभी देखा है? यदि हाँ, तो तुम मेरी दशा का ठीक अनुमान कर सकोगी।

अब मैं कभी-कभी यह सोचती हूँ कि राधावल्लभ मुझे दिखाई ही क्यों पड़े। सच कहती हूँ मैंने जिस दिन से उन्हें देखा उसी दिन से मेरा कायापलट हो गया। राधावल्लभ के सरल नेत्रों से मैं ऐसी छुटीली हो गयी कि मुझे अपना ही ध्यान नहीं रह गया। उनकी मनोहर आकृति को देखते ही क्या जाने क्यों मेरा प्राण अपार उत्कण्ठा और विकलता से विवश होकर उनके चरणों पर निछावर हो गया। जिस दिन यह काण्ड हो गया उस दिन बहिन! तुम्हारी अत्यन्त अभिमानिनी निर्म्मला का सम्पूर्ण अभिमान चकनाचूर हो गया। आह! तुम्हारे ही सामने एक बार तो मैंने बड़े गर्व्व के साथ कहा था कि मैं सन्तानोत्पत्ति करके देश का भार नहीं बढ़ाऊँगी, मैं विवाह नहीं करूँगी, मैं कुमारी रह कर सारा जीवन व्यतीत कर दूँगी। परन्तु, आज मेरा हृदय जानता है कि यदि राधा-वल्लभ जैसे पुरुष से मेरा विवाह हो तो मैं सौ जन्मों की आयु पाकर भी कभी तृप्त नहीं हो सकती। बहिन विनोदिनी! क्या तुम्हें वे शब्द याद न होंगे जो तुमने मेरे कथन के उत्तर में कहे थे—'निर्म्मला, जब तक ऊँट पहाड़ के नीचे नहीं जाता तब तक वह समझता है कि मै ही सब से ऊँचा हूँ। तू अभी जो प्रतिज्ञा कर रही है उसका वास्तविक अर्थ ही तुझे नहीं मालूम है। जिस बुद्धि का प्रयोग करके अभी तू घमंड भरी बातें कर रही है उसका इतना ही तात्पर्य्य है कि तेरे हृदय मे अनङ्ग का मर्म्मवेधी बाण अभी नही लगा, जिस दिन त्रिलोक के चित्त को सविकार करनेवाले रतिनाथ के भ्रूभंग की तू पात्री होगी उस दिन यह तेरी समझ मे आ जायगा कि प्रेम के जादूघर में प्रवेश करने के अनन्तर विवेक और तर्क-

बुद्धि दुम दबाकर भाग जाती है ।' सखी ! तुम्हारा कहना सच निकला । सच पूछो तो लज्जा के कारण ही अब तक मैंने तुम्हे अपनी सची बातें बतायीं नहीं, तबियत अच्छी न होने का बहाना करके मैंने तुम्हें कई बार बहला दिया । परन्तु, इस प्रेम के जाल में पड़ कर अब मैं खूब निर्लज्ज हो चुकी । मेरे पागलपन को पास-पड़ोस में किसने नहीं जान लिया ! ऐसी दशा में तुम्हीं को अन्धकार में रख कर मैं कौन सा लाभ उठा लूँगी । परन्तु प्रेम-कथा लिखने में थोड़ा-सा समय तो लगेगा ही । इसलिए, उसे सात आठ दिन बाद जानोगी । एक बार जी में आया था कि सात आठ दिन बाद ही तुम्हारे पत्र का उत्तर दूँ जिससे सारी बातों की जानकारी तुम्हें एक साथ ही हो जाय, परन्तु, तुम्हारे उतावले स्वभाव का विचार करके यह पत्र आज ही डाक में छोड़े देती हूँ ।

तुम्हारी सहेली
निर्म्मला

[पत्र १४]

काशी

प्रिय सखी विनोदिनी

पहले पत्र को गये आज आठवाँ दिन है । इतने दिन में भी मैं अपनी कहानी को पूरा नहीं लिख पायी । कुछ लोगों को लिखते समय विषय नहीं सूझता, जिससे उनकी लेखनी मन्द पड़ी रहती है, किन्तु मेरा तो उलटा हाल है । जिस समय मैं लिखने बैठती हूँ उस समय मेरी लेखनी भावों और विचारों से इतना अधिक दब जाती है कि उसकी प्रायः सम्पूर्ण शक्ति का लोप हो जाता है । अस्तु ।

पिछले पत्र में मैंने तुमसे जो वादा कर दिया था उसे करके मैं बेतरह पछतायी। प्रेम की पीड़ा से मैं व्याकुल हूँ, यह तो पिछले पत्र में लिख ही दिया था, फिर अब शेष ही क्या रहा जो मैंने तुमसे दूसरे पत्र की प्रतीक्षा करायी ? हाँ, तुम यह अवश्य जानना चाहती होगी कि मैंने अपने प्रेम का अधिकारी किसे बनाया ? यही बात तुम्हें आज बताये देती हूँ।

विनोदिनी ! काशी में साथ रहते समय मैं और तुम जाह्नवी नामक मासिक पत्रिका में किसी एक व्यक्ति की कविताएँ बड़े चाव से पढ़ा करती थीं, जिस अंक में उसकी कविताएँ रहती थीं उसे बहुत सुरक्षित-रूप से रखा करती थीं। उस व्यक्ति का नाम तो तुम्हें याद ही होगा वही राधावल्लभ, वही राधावल्लभ ! आह ! तब मैं यह क्या जानती थी कि अभी जिस अज्ञात, अदृष्ट कवि के विचारों से परिचय पाकर मैं आनन्द-सागर में निमग्न होती हूँ वही किसी दिन मेरे जीवन का गान हो जायगा, मेरे सुख-दुख का विधाता हो जायगा। तब मैं कैसी थी और अब कैसी हो गयी हूँ। अधिक क्या लिखूँ। अब तो मैं ही कवियों और लेखकों के लिए एक कहानी हो गयी, राधा और कृष्ण की प्रेम-कथा की ऐसी मेरी कथा भी हो गयी।

किन्तु, अपने को राधा भी कैसे कहूँ ? मुझे तो अपने प्यारे से एक दिन भी जी भरकर बातें करने का अवसर नहीं मिला।

निर्मला

Printed by K. P Dar, at the Allahabad Law Journal Press, Allahabad
Published by Pt Girja Datta Shukla, B A, Lekhak Mandal Daragani Praya